भगवानश्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला

पुष्प : १३

मुक्ति का मार्ग

परमपूज्य, परमोपकारी, अध्यात्मयोगी

श्री कानजी स्वामीका

श्री सत्ता स्वरूप शास्त्र पर प्रवचन

अनुवादक

पं. परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ

सम्पादक : "वीर"

|| ॐ ||

श्री सद्‌गुरुदेवाय नमः

प्र स्ता व ना

१–सत्ता स्वरूप नामक शास्त्र श्रीमान प भागचंदजीने हिन्दी मे रचा था, उसका गुजराती अनुवाद इस संस्थाकी ओर से वीर स. २४७० को फाल्गुन शुक्ला द्वितीयाको प्रगट हुआ था।

२–इस शास्त्र मे मुख्यतया दो विषय लिये गये हैं। (१) अरहंतदेव का स्वरूप (२) सर्वज्ञकी सिद्धि। यह दोनो विषय उस शास्त्र में बहुत ही स्पष्टतया समझाये गये है।

३–कई लोग यों कहते है कि 'तत्त्व निर्णय इस काल मे नहीं हो सकता' किन्तु यह मान्यता एकदम गलत है और तत्त्वनिर्णय रूप धर्म बालक, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान–निर्धन, सुक्षेत्री–कुक्षेत्री इत्यादि सभी अवस्थाओ मे और सर्व काल मे प्राप्त हो सकता है इस प्रकार उस ग्रंथ मे कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते, उनका पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष इत्यादि समस्त कार्य असत्य है, इसलिये सत्य आगम का सेवन, युक्तिका अवलंबन, परंपरा गुरुओ का उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्वनिर्णय अवश्य करना ही चाहिये।

४ सम्यग्दर्शन इस धर्मकी पहली सीढी है। तत्त्वनिर्णय के विना वह हो ही नहीं सकता, इसलिये उसे प्राप्त करने के लिये जीवो को खास प्रेरणा की है।

५-केवल कुल धर्मको लेकर मान्यता करने से जीव का गृहीत मिथ्यात्व दूर नही हो जाता, भले ही वह मान्यता सच्चे वीतरागदेव की ही क्यों न हो ? और फिर गृहीत मिथ्यात्व के दूर हुये विना अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता, इसलिये गृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप और उसे दूर करने का उपाय उपर्युक्त शास्त्र मे है।

६-जब तक मुमुक्षु जीव अपना संसारकी ओर का राग बदल कर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रको पहचान कर उनकी ओर नही ले जाता तब तक उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर नही होता। इसलिये इस शास्त्र मे यह भी बताया गया है कि मुमुक्षु जीवोंको पहले राग किस दशामे बदलना चाहिये। और ऐसे मुमुक्षुके पहले किस प्रकार का राग होता है। यह भव्य जीवोको समझने के लिये पूज्य श्री कानजी स्वामीने वीर सं. २४७० के पर्यूषण मे आठ दिन तक दिये हुए इस शास्त्र के पृष्ठ १ से २४ तक का व्याख्यान अंकित किये गये हैं और जिज्ञासु जीवोंको समझाने के लिये प्रसिद्ध किये गये है।

मुमुक्षुओ से प्रार्थना

७-इन व्याख्यानो का सूक्ष्म दृष्टि से अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि सच्चे शास्त्रका धर्मबुद्धि के द्वारा अभ्यास करना सो सम्यग्दर्शन का कारण है. इसके अतिरिक्त निम्न लिखित बातो को ध्यान मे रखना चाहिये:—

१–पहले सम्यक्त्वोन्मुख जीव का राग संसारकी ओर से दूर होकर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रकी ओर जाता है किन्तु वह उस राग मे धर्म नही मानता, धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से ही होता है।

२–सम्यग्दर्शन प्राप्त किये विना किसी भी जीव के सच्चा व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप और प्रत्याख्यान इत्यादि नही होता, क्योंकि वह क्रिया पहले पांचमे गुणस्थान में शुभभाव रूप होती है।

३–शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के होता हैं। किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि उससे धर्म होगा और ज्ञानी यह मानता है कि उससे कभी भी धर्म नहीं हो सकता।

४–इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शुभभाव करने का निषेध किया जा रहा है किन्तु उस शुभको धर्म नहीं मानना चाहिये और न यह मानना चाहिये कि उसके द्वारा क्रम २ से धर्म होगा। क्योकि अनंत वीतरागोने उसे बंध का कारण कहा है।

५–एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, उसे परिणमा नही सकता, प्रेरणा नही कर सकता, उस पर कोई असर, मदद या उपकार नही कर सकता, लाभ या हानि भी नही कर सकता। न वह मार ही सकता है और न जिवा ही सकता है, सुख दुःख वे नही दे सकता, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य गुण पर्यायकी संपूर्ण स्वतंत्रताको अनंत ज्ञानियोने पुकार पुकार कर कहा है।

६–जिनमत मे ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होता है उस मे से सम्यक्त्व स्व परका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है, इसलिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रध्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

७–प्रथम गुणस्थान मे जिज्ञासु जीवो के सत् शास्त्रका अभ्यास, पठन, मनन, ज्ञानी पुरुषो के धर्मोपदेश का श्रवण. निरंतर उनके समागम मे रहना. देवदर्शन. पूजा, भक्ति, दान इत्यादि शुभभाव होते है किन्तु प्रथम गुणस्थान मे सच्चा व्रत और तप इत्यादि नहीं होता।

८–इन व्याख्यानों मे ग्रहीत और अग्रहीत मिथ्यात्व का स्वरूप दिया गया है तथा दान इत्यादि का जो स्वरूप दिया गया है वह विशेषतः पुनः पुनः पढ़कर विचार करने योग्य है।

रामजी माणेकचंद दोशी

प्रमुख

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सुवर्णपुरी–सोनगढ़- काठियावाड

जैन शास्त्रोंके अर्थ करनेकी पद्धति

प्रश्नः—जिनमार्गमे दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा गया है, इसका क्या कारण है ?

उत्तरः—जिनमार्गमे किसी जगह निश्चय-नयकी मुख्यताको लेकर कथन है, उसे यह जानना चाहिये कि 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' तथा किसी जगह व्यवहारनयकी मुख्यताको लेकर कथन है उसे यों जानना चाहिये कि 'इस प्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार है'। और इस प्रकार जानना ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयोंके कथन को समान सत्यार्थ जानकर 'यह इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है' यो भ्रमरूप प्रवृत्ति करनेसे दोनो नयों को ग्रहण करना नहीं कहा गया है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

卐

-: विषय-सूचि :-

आभार : क्षमा

अनुवाद में पं. बाबूलाल जैन शास्त्री प्रकाशक 'जैन गजट' ने सहायता दी है तदर्थ आभार। प्रूफ संशोधन मे कई भूलें रह गई है तदर्थ क्षमा प्रार्थी हैं।

प्रकाशक

॥ ॐ ॥

॥ श्री सर्वज्ञाय नमः ॥

—मुक्ति का मार्ग—

परमपूज्य परमोपकारी अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामीके सत्ता स्वरूप शास्त्र पर प्रवचन*

[१]

"ॐ श्री सर्वज्ञाय नमः" इसमे पहले जो 'ॐ' है वह तीर्थंकर भगवानकी एकाक्षरी दिव्यध्वनि है। जब पूर्णानंद दशा प्रगट होती है तब पूर्व पुण्यबंध के कारण तीर्थंकर भगवान के बिना ही इच्छा के ॐ इस प्रकारकी सहज ध्वनि प्रगट होती है। वहां तीर्थंकरकी धर्मसभा मे गणधरदेव होते हैं, जो अनेक लब्धिधारी होते हैं, वे गणधरदेव भगवानकी ओमकार ध्वनिको झेलकर शास्त्र रचना करते हैं, इसलिये यहा सर्व प्रथम ॐ शब्द रखा गया है। वह वाणी सर्वज्ञ वीतराग अर्हंतदेव के ही होती है। इस शास्त्रका नाम सत्ता स्वरूप है। सत्ता स्वरूपका अर्थ है जो जैसा है उसका उस प्रकार से निश्चय करना। सत्ता अर्थात 'है' और जो है उसकी चर्चा है।

---

* वीर संवत् २४७० के पर्यूषण पर्व मे सत्ता स्वरूप शास्त्र के २४ पृष्ठों पर प्रवचन हुये थे, वे यहा पुस्तक रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

ग्रंथकार का मंगलाचरण

मंगलमय मंगलकरन वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये अर्हंतादि महान्॥

इस मंगलाचरण मे वीतराग विज्ञान को नमस्कार किया है, जो अरहंत, सिद्ध इत्यादि महान हुये हैं वे वीतराग विज्ञान के कारण हुआ है। वकालत की कला और डाक्टरी की कला में वीतराग विज्ञान नहीं है, उसे तो दूर से ही नमस्कार करना चाहिये अर्थात् उसका त्याग करना चाहिये। वास्तविक आदर तो वीतराग-विज्ञान का ही होता है इसीसे अरहंत और सिद्ध आदि महान हुये हैं। ध्यान रहे कि यहांपर मात्र वीतराग या मात्र विज्ञान नहीं कहा है किन्तु 'वीतराग-विज्ञान' इन दोनों को एक साथ कहा है।

यह वीतराग विज्ञान कैसा है? वह स्वय मंगलमय है–स्वयं मगलस्वरूप है। यों कहकर पहले तो मांगलिकको अभेद-रूपमे ले लिया है। वीतराग विज्ञान से स्वरूप की संपदा प्रगट हुई है और पुण्य पापकी आकुलता का नाश किया है, इस-लिये वह वीतराग विज्ञान स्वयं मगलस्वरूप हैं।

वीतराग विज्ञान का अर्थ है पूर्ण सम्यग्ज्ञान। वह स्वयं ही मगलमय है और मगलका कारण है। सच्चा ज्ञान–वीत-रागीज्ञान–तत्त्वज्ञान–आत्मज्ञान यह सब मगलस्वरूप है और मंगलका उपाय भी यही है। वह आत्मा की स्वरूप सपदा प्राप्तकरनेरूप मगल का कारण है। इसलिये यहांपर शास्त्रकारने

शास्त्र के प्रारंभ में ही उसे नमस्कार किया है। इस वीतराग विज्ञान के कारण ही अर्हंतादि महान हुये हैं। वीतराग विज्ञान को प्राप्त करके ही पंच परमेष्ठियोंने आत्मतत्त्व पाया है।

इस ग्रंथ के कर्ता पंडित भागचंदजी गृहस्थ थे। उनने इस ग्रंथ में गृहीतमिथ्यात्व को छुड़ाने के लिये बहुत ही प्रभावक ढंग से कथन किया है। वर्तमान में जीवों ने जैन संप्रदाय को प्राप्त किया है किन्तु वे सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का निर्णय नहीं करते और यदि कोई जीव मात्र सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का निर्णय करले किन्तु आत्मतत्त्व का निर्णय न करे तो उसके शुभभाव होगा लेकिन धर्म नहीं होगा। और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को पहिचाने बिना और उनकी भक्ति प्रगट हुये बिना आत्मा की पहिचान नहीं हो सकती। इसलिये सबसे पहले सत्ता स्वरूप में देव, शास्त्र, गुरु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया गया है।

"सभी जीव सुख चाहते हैं" जो काम करना चाहते हैं, वह सब सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही करते हैं। प्रत्येक क्रियासे वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरे को मारते हैं वह भी सुख के लिये, पर वस्तुकी चोरी करते हैं वह भी सुख के लिये, झूठ बोलते हैं सो भी सुख के लिये और धन दौलत का परिग्रह करते हैं सो भी सुख के लिये। इस प्रकार अनेकविध पाप करके भी अज्ञानी जीव सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख तो सभी को प्यारा है, किन्तु सुख के सच्चे उपायकी अनादिकाल से खबर नहीं है। सबलोग धर्म सुनने को किसलिये एकत्रित्त होते हैं? सभी

सुख की इच्छासे ही आते हैं। जीवने अनत काल मे तत्त्व का यथार्थ निर्णय नहीं किया। यदि तत्त्व निर्णय होजाय तो उसमे रमणता का भाव हुये बिना न रहे और यदि तत्त्व मे रमणता हो जाय तो यह दुख हो ही नही।

किसीसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक जीव को सुख प्रिय होता है। प्राणी प्रत्येक कार्य में सुख के लिये ही दौड़ता है। स्वर्ग के देव या नरक के नारकी, तिर्यंच या मनुष्य, त्यागी या गृहस्थ यह सब सुख के लिये ही आतुर रहते हैं। किन्तु यह सुख कैसे मिलता है, क्या यह सुख बाहर से पैसा इत्यादि मे से आता होगा ? नहीं, नहीं ! वह सुख रागद्वेष रूप भावकर्म के नाश करने पर प्रगट होता है, भावकर्म के नाश करदेने पर आठो प्रकार के द्रव्य कर्म का नाश हो जाता है। और सब कर्मो का नाश होने पर स्वतत्र सुख प्रगट होता है।

सुख बाहर से नहीं आता किन्तु भीतर से ही प्रगट होता है। बाहर सुख है कहां ? क्या शरीर पिड मे सुख है, पैसे मे सुख है, स्त्री मे सुख है, सुख है कहां ? बाह्य मे तो धूल-जड़ दिखाई देती है। क्या जडमे आत्मा का सुख हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी जीवने परवस्तुओं मे सुख की मिथ्या कल्पना कर रखी है। यद्यपि परवस्तु मे सुख नहीं है, कभी परवस्तु मे सुख देखा भी नहीं गया, फिर भी मूढता के कारण वैसी कल्पना करली है। अयथार्थ को यथार्थ मानलेने से परिभ्रमण का दुःख दूर नहीं हो जाता। अज्ञानी को सुख स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये वह स्व-

भाव से विरुद्ध भाव कर रहा है और इसीलिये आठ कर्मो का बंध होता है, तथा आकुलता का भोग किया करता है। यदि वह स्वभाव का भान करले और स्वभाव से विरुद्ध जो रागद्वेष के भाव हैं उनका नाश करे तो सब कर्म दूर होजाय और दुःख मिटकर सुख होजाय।

जो पर से सुख प्राप्त करना चाहता है वह मूढ है। यह मानना मूढता है कि किसी बड़ी सभामे मेरा आदर हुआ इसलिये ठीक हुआ है। मान अपमान से कहीं आत्मा की शांति थोडे हो होने वाली है? राजा इत्यादिक को बहुतसे आदमी राज दरबारमे खमा खमा (मुजरा देकर) करते हैं, किन्तु आंख बंद होने पर उसमे से क्या बाकी रहता है? क्या इसमे सचमुच कहीं सुख है? सुख तो सर्व कर्मो के नाश से पैदा होता है। व्यर्थ की शक्ति-बल लगानेसे प्रगट नहीं होता। ताला खोलने के लिये शक्ति या बल की आवश्यकता नहीं, हथोड़े से ताला नहीं खुलता किन्तु टूट जाता है और यदि युक्ति पूर्वक चावी लगाई जाय तो वह सुगमता से जल्दी खुल जाता है। इसीप्रकार आठ कर्मों का नाश किये बिना अर्थात् विकारीभावों का नाश किये बिना व्यर्थ के बलसे सुख प्रगट नहीं होता। "सत्य को समझने की क्या आवश्यकता है, खूब महिनत करो उससे सुख प्रगट हो जायगा" इसप्रकार के व्यर्थ के बल से किसी का सुख प्रगट नहीं होगा।

जिसका जो स्वभाव हो उसे यदि वैसा ही समझे जैसा कि है तो वह प्रगट होगा। जैसे यदि भावनगर जाना हो तो भावनगर का रास्ता जानना होता है, किन्तु 'रास्ता जानने की

क्या आवश्यकता है? यों ही क्यों न चल दिया जाय?' इस-प्रकार भावनगर नहीं पहुंचा जा सकेगा, यह तो एक दृष्टांत है। इसीप्रकार यदि सुख का उपाय समझ लिया जाय तो सुख प्रगट हो, किन्तु सच्चा उपाय जाने विना व्यर्थ के जोर से सुख प्रगट नहीं होगा। सुख कर्मों के नाश से प्रगट होता है। कर्म का नाश चारित्र से-वीतरागदशा से होता है और चारित्र का अर्थ है अंतर स्वरूप मे रमणता। वह सम्यक्‌दर्शन–सम्यक्‌ज्ञान से प्रगट होती है, इसके सिवाय अन्य किसी प्रकार से भी कभी भी सुख प्रगट नहीं होगा।

यदि कोई कहे कि चारित्र क्या है? तो उसके लिये कहते है कि चारित्र बाह्य वस्तु मे नही है, उपकरण या वस्त्रादि में नहीं है, किन्तु आत्मा अनंतगुणोंका पिण्ड है, उसका ज्ञान प्राप्त करके उसमे स्थिर होजाना सो वही चारित्र है। वह चारित्र तो मुनिदशा मे होता है। पहले अतिचार रहित आत्मा की श्रद्धा करने के बाद ही स्वरूप रमणतारूप चारित्र होता है। आत्मा अनंतगुणोंका निर्मल पिंड है। उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से क्षणिक विकार का नाश होता है। किन्तु विकार मेरा है, इसप्रकार विकार की श्रद्धा से विकार का नाश नहीं होता। विकार का नाश करने के लिये बल कहां से आयेगा? वह बल परवस्तु मे से नहीं आता, विकार में से नहीं आता और निर्मल अवस्थामे से भी नहीं आता। किन्तु दर्शन, ज्ञान, आनंद इत्यादि अनंतगुणों से अभेद स्वरूप जो वस्तु है- (जिसमे न तो पर है न विकार है और न वर्तमान अवस्था मात्र ही है ऐसी वस्तु) उसमें से बल मिलता है। उस वस्तु की जो श्रद्धा है वह सम्यक्‌दर्शन है।

यदि कोई पूछे कि सम्यक्दर्शन मे ऐसी क्या बात हैं कि सब से पहले उसीकी बात कही जाती है तो उसका समाधान करते हुये बताते हैं कि इसका कारण यह है कि सम्यक्द-र्शनका विषय संपूर्ण वस्तु है और उस वस्तु के बल पर ही चारित्र प्रगट होता है। शुद्ध निर्मल स्वरूपकी श्रद्धा के बल से चारित्र प्रगट होता है और रागद्वेषका नाश होता है इसलिये पहले सम्यक्दर्शनकी बात कही गई है।

पहले सम्यक्दर्शन होने पर तथा चारो अनुयोग द्वारा मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होने पर चारित्र प्रगट होता है। वे चार अनुयोग कौन कौन से है? यह बताते हैं:—

(१) द्रव्यानुयोग—इसमे आत्मवस्तुकी व्याख्या मुख्यता से होती है।

(२) चरणानुयोग—इसमें रागको घटाने और परिणामों को सुधारने के लिये निमित्तकी प्रधानता से कथन होता है।

(३) करणानुयोग—इसमे परिणामोंकी सूक्ष्म बात गणित के अनुसार होती है।

(४) कथानुयोग (प्रथमानुयोग)—इसमे महा पुरुषों के पवित्र आचरणकी व्याख्या (जीवन चरित्र) होती है।

इन चारो अनुयोगो के द्वारा मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत पदार्थो का संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादि रहित यथार्थ ज्ञान होने पर यथार्थ चारित्र होता है। यदि कोई प्रयोजनभूत वस्तु अर्थात् मुख्य वस्तु को न समझकर अन्य सब किया करे

तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं कहलायेगा। प्रयोजनभूत वस्तु को स्वीकार न करके अन्य वस्तुका स्वीकार करनेवाले का एक दृष्टांत यहां दिया जाता है—

एक वणिककी दुकान से एक काश्तकारने पांचसो-सातसो रुपये का माल और कुछ नगद उधार लिया। बहुत समय के बाद वह अपना हिसाब मिलाने के लिये वणिक के पास गया। वणिकने एक के बाद एक रकम सुनाना शुरु की, कि देखो भाई! इन दो नारियलों के चार आना, बराबर है न? काश्तकारने कहा हां जी बराबर है। इसके बाद काश्तकारने पावभर मिर्च, सवासेर तेल, ढाईसेर चावल, और ऐसी ही अनेक छोटी छोटी वस्तुओंको स्वीकार किया। इसके बाद जब बडी रकम आती है कि २५) नगद लिये थे, तब काश्तकारने कहा अरे! मैंने नगद रकम कब ली थी? मुझे तो इसकी तनिक भी खबर नहीं है, इस प्रकार काश्तकारने छोटी छोटी वस्तुओंको स्वीकार करके मूल बड़ी रकम उड़ादी। वणिक समझ गया कि यह तो गजब होगया इसने तो मूल रकम ही उडादी। अब इसे क्यों कर वसूल किया जाय। इसके बाद जब वणिक ने उससे आगेका हिसाब सुनाना शुरु किया तो उस काश्तकार ने पावभर हल्दी और ऐसी ही चार छह छोटी बडी रकमे स्वीकार करली; किन्तु जब फिर बडी रकम आई कि ५१) नगद तब काश्तकार बोला कि अरे भाई मै तो यह जानता ही नहीं। यहां ५१) देखे ही किसने? इसप्रकार उसने मूल रकम को उड़ाकर शेष सब छोटी बडी रकमों को स्वीकार कर लिया। किन्तु यदि उसने मूल रकम को स्वीकार किया होता और

छोटी बड़ी दो चार रकमों को उडादिया होता तब तो वह नफा मे भी समा जाती। किन्तु जब उसने मूल रकम को ही उड़ा दिया तब उसका मेल कैसे बैठे ? काश्तकारने तो दोनों ही हाथ टेक दिये।

इसीप्रकार शास्त्रोंमें अन्य की भक्ति करने की, दया पालने की और ऐसी ही दूसरी बाते आती है, उन्हे मनुष्य स्वीकार करता है कि हा महाराज! यदि भक्ति वगैरह की जाय तो धर्म होता है, अरे! लेकिन धर्म होता है यह कहा है किसने? भक्तिसे धर्म होता है यह किसने कहा। दूसरे की दया और भक्तिसे तीनकाल और तीनलोक में भी धर्म नहीं होता। जब ऐसी बात आती है तब कहता है कि यह बात मेरी बुद्धिमे नहीं बैठती। यों कहनेवाला उपर्युक्त दृष्टात के अनुसार प्रयोजनभूत मूल रकम को उडादेता है। अरे भाई! तू पुण्य की रकम को कबूल करता है लेकिन तत्त्वका भी तो निर्णय कर, अन्यथा तेरा कर्ज अदा कैसे होगा ? तू कर्ज के भारमे चौरासीमे दबकर मर जायगा।

पुण्य की बात को स्वीकार करता है, दया की बात को मजूर करता है लेकिन जहां मूल रकम आती है कि देव, शास्त्र, गुरु और आत्मा का यथार्थ भान हुये बिना धर्म नहीं हो सकता वहां यह आत्मा अपने हाथ टेक देता है। वह यो कहकर फोरन छूट जाता है कि यह बात मेरी बुद्धिमे नहीं जमती। यहां तो कहा गया है कि चारों अनुयोगो के द्वारा मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत रकम का सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि से रहित यथार्थ ज्ञान होने पर यथार्थ चारित्र

होता है और चारित्र दशा में आलस्य, मद इत्यादि सब दोष दूर होते हैं। आवश्यक रूपका संशय और विपरीतता रहित यथार्थ ज्ञान होना चाहिये, विपरीत होने पर यथार्थ धर्म का लाभ नहीं हो सकता। इसलिये अनध्यवसाय (ऐसा कुछ लग तो रहा है फिर चाहे जो हो) भी नहीं चल सकता। सच्चा मार्ग तो यही है, इसके विना तीन लोक और तीन काल मे मुक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई यों कहे कि यह तो एक की एक ही वात कह रहे है तो भाई! सत्य का मार्ग तो त्रिकाल मे एक ही होता है।

आत्मा निर्मल है और रागद्वेष क्षणिक है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता, आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता। यह सुनकर कोई कहे कि हम तो अपनी आंखों से देख रहे है कि आत्मा शरीर का कुछ न कुछ किया ही करता है, फिर भी आप इनकार कैसे करते हैं? उसके उत्तर मे कहा जाता है कि भाई! तूने अपनी आंखों से क्या देखा? शरीर उसके कारण चलता है इसलिये तू मान वैठा है कि मैने उसे हिलाया है और फिर तू कहता है कि मैंने अपनी आंखों से देखा है। तूने 'वछड़े के अंडे' की तरह अपनी आंखों से देखा होगा। जैसे कोई कहे कि मैंने अपनी आंखों से देखा है कि अंडा फटकर उसमें से एक वछड़ा निकला है तो उसकी यह वात प्रत्यक्ष में ही असत्य सिद्ध है क्योंकि वछड़े का अंडा होना ही नहीं। कहीं अंडा फूटा और उसी समय पाससे ही एक खरगोशका वच्चा जाता हुआ दिखाई दिया। उसे देखकर मूर्ख यह मान वैठा कि अंडेमे से वछड़ा

निकला है और फिर दावेके साथ कहता है कि मैने अपनी आंखो से अंडे मे से बछड़ेको निकलते देखा है। इसी प्रकार जो शरीरकी क्रिया शरीर के ही कारण होती है और आत्मा उसे जानता है, उसे अज्ञानी–यह मान बैठा है कि यह शरीरकी क्रिया मेरे से हुई और मैने उसे अपनी आंखो देखा है। लेकिन अरे भाई! आत्मा परका कुछ कर ही नही सकता तो फिर तूने अपनी आंखों से कहां से देखा? जबतक यह बात ठीक न जम जाय कि आत्मा परका कुछ कर ही नहीं सकता तबतक तू तत्सबधी ज्ञान प्राप्त करने मे लगा रह। सर्वज्ञकी बात मे अंतर नहीं पड़ सकता। इसलिये जबतक सर्वज्ञ के कथनानुसार तेरे ज्ञानमें बात न बैठ जाय तबतक श्रवण मनन करके ज्ञान प्राप्तिका प्रयत्न करता रह। बापदादा के लिखे हुये बही खातेकी कोई बात यदि समझमे नहीं आती तो कहता है कि पिताजी तो बहुत हुशियार थे, उनकी भूल नहीं हो सकती, मेरी ही गलती होगी। इस प्रकार जब कि बाप के बहीखातेमे शंका नहीं करता तब वह यह विश्वास क्यों नहीं करता कि इसी प्रकार परम पिता सर्वज्ञदेवकी भूल नहीं हो सकती। सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार प्रयोजनभूत रकमकी सम्यक् श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान होना चाहिये। सम्यक्-दर्शन और सम्यक्ज्ञान द्वारा सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र होने पर कर्मो का नाश होता है। कर्मों का नाश होने पर सर्व प्रिय सुख प्रगट होता है, इस प्रकार सम्यक्दर्शन ही सुखकी नींव है।

कोई पूछे कि जिस सच्चे ज्ञान के होने पर आलस्य वगै-

रह समस्त दोष दूर हो जाते हैं वह सच्चा ज्ञान कैसे होता है? उसके समाधान के लिये कहते है कि सत्‌शास्त्रका श्रवण, धारण, विचार और अनुप्रेक्षापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। सत्‌शास्त्र सुनने के साथ ही साथ धारणा होनी चाहिये। देखो जीवोंको सच्चा सुख चाहिये है और वह सुख सर्व कर्मों के नाश होने पर प्रगट होता है। कर्मोका नाश चारित्र होने पर होता है और चारित्र सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान से होता है, तथा सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान सत्‌शास्त्रो के श्रवण-धारण करने से होता है।

इसमे धारण करने की मुख्यता हैं। यदि पूछा जाय कि भाई! सवेरे तुमने समयसार की चर्चा में क्या सुना था तो उत्तर मिलता है कि याद नहीं रहा, किन्तु ऐसे श्रवण से काम नहीं चलेगा। संसार-व्यवहारमें यदि किसी से कुछ ऋण लेना बाकी हो तो वह उसे बराबर याद रखता है, उस कर्जदार को देखते ही याद आजाता हैं कि इस पर इतना कर्ज लेना बाकी है। जिस प्रकार ऋण संबंधी धारणा बना रखी है उसी प्रकार सत् शास्त्र को भी पात्र जीव यथार्थ रीत्या धारण करले और धारण करने के बाद उसपर विचार करना चाहिये, तत्पश्चात् आम्नाय अर्थात् उसे दूहराते रहना चाहिये कि आत्मा शुद्ध है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा के गुण इस प्रकार है, उसकी निर्मल स्पष्ट ज्योति ऐसी है, इत्यादि। और अनुप्रेक्षा पूर्वक बारम्बार चिंतवन करना चाहिये। धर्मसभामें जाकर घंटे दो घंटे तक धर्म की बातें सुनते है और फिर घर जाकर विकथाओं मे लग जाते हैं, यह अनुप्रेक्षा नहीं कही जा सकती।

यहांपर धारण और अनुप्रेक्षा दोनों का प्रयोग किया गया है, इससे स्पष्ट है कि धारणा का अर्थ वर्तमान में सुनते समय याद रखना है और अनुप्रेक्षा का अर्थ है याद रखी हुई बात का बाद मे बारम्बार विचार करना।

समस्त कल्याण का मूल कारण आगम का यथार्थ निर्णय है। भगवान के द्वारा प्ररूपित परमागम शास्त्रों का मात्र अभ्यास नहीं किन्तु यथार्थ अभ्यास करना चाहिये। यथार्थ अभ्यास का अर्थ है शास्त्रों के कथनानुसार ठीक ठीक आशय को समझना। किन्तु अपनी अनुकूलता के अनुसार अर्थ को बिठा लेना यथार्थ अभ्यास नहीं कहा जा सकता।

अब कहते हैं कि-आगम के यथार्थ अभ्यास का अवसर दुर्लभ है भाई! इस संसार का परिभ्रमण आजकल का नहीं है किन्तु अनादिकालीन है। इसमे जगत की वकालत वगैरह का अभ्यास करते करते दम निकल गया, उसमे शास्त्राभ्यास का अवसर मिलना दुर्लभ है। अनादि कालसे तेरा अधिकांश समय तो एकेन्द्रिय पर्याय मे चला गया। त्रस की स्थिति तो मात्र दो हजार सागर की है। एकेन्द्रिय के काल को देखते हुये त्रसका काल अत्यंत अल्प है। त्रस पर्याय पाकर भी आत्मा का भान नहीं किया और त्रस समय समाप्त होगया और फिर जीव का अनंत काल एकेन्द्रिय मे व्यतीत होता रहा। एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म-मरण करके जीवने अनंत दुःख पाया है। यह मनुष्यत्व अत्यंत दुर्लभ है। एकेन्द्रिय पर्याय मे स्पर्शन इंद्रियसंबंधी किंचित् ज्ञान होता है वहा अनंत गुना दुःख है। किसी राजकुंवर को खूब शृंगार करके विश्व के

किसी सबसे बड़े कारखाने की भट्ठी में डालकर यदि जीवित जलादिया जाय तो उसे उस समय जो पीड़ा होगी उससे भी अनतगुणी वेदना एकेन्द्रिय दशामें प्रत्येक जीव अनतवार भोग चुका है। स्मरण रहे कि उस पर्याय में मात्र स्पर्शन इद्रियका और वह भी अत्यत अल्पज्ञान है।

उसके वाद दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इद्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय प्राणियोको भी तत्त्व विचार करनेकी शक्ति नहीं है। यहां पर सुख दुःख के अनुभवकी अथवा अन्य विचारकी बात नहीं हैं किन्तु शास्त्र के विचारकी वात है। असैनी पचेन्द्रिय तक तो विचार करने का अवसर ही नहीं है वे सब मनरहित है। अब मनवाले प्राणियों का विचार करें। उनमे से नरकगति मे तो शास्त्राभ्यास होने का सबध ही नहीं है। किसी जीवने पहले सत्समागम किया हो और उसकी वासना कदाचित रह गई हो तो किसी जीव के आत्मा का अतरग विचार हो सकता है, किन्तु वहां शास्त्राभ्यास का अवसर तो मिल ही नहीं सकता। देवगति मे जो नीच जाति के देव है उन्हे विषयभोगकी सामग्री प्राप्त हुई है इसी-लिये वे उसी मे अत्यत आसक्त रहते है। वे उस मे इस प्रकार लीन है कि उन्हें धर्मवासना ही नहीं होती, इसलिये उन्हे भी शास्त्राभ्यास का अवसर प्राप्त नहीं है। उच्च पदवाले देवो मे से किसी किसी के ही धर्मकी विचारणा होती है, वह भी इसलिये कि विशेषतया उनने मनुष्यभव मे शास्त्राभ्यास आदि किया होता है। उस मनुष्यभव मे की गई धर्मसाधन की योग्यता से उच्चपदवाले देव होते हैं।

असंख्यात जीवों मे से कोई जीव बडादेव होता है उसे ऐसा लगता है कि अरेरे ! मनुष्यभव मे मेरी साधना अधूरी रह गई और इस प्रकार उसके धर्मवासना उत्पन्न होती है। विशेपतया तो मनुष्यभव मे ही धर्मसंस्कार प्राप्त होता है। यहां पर 'विशेपतया' शब्द का प्रयोग किया गया है, क्यों कि तीर्थंकरकी सभामें कोई पशु भी धर्मोपदेश सुनकर आत्म-ज्ञान करलेता है, उसकी यहांपर मुख्यता नहीं है। इसलिये 'विशेपतया मनुष्यभव में' इस प्रकार का भाषा प्रयोग किया गया है।

मनुष्य पर्याय मे भी अनेक जीवों की आयु अत्यंत अल्प होती है उन जीवों के पर्याप्तिकी पूर्णता ही नहीं होती-शरीर की रचना ही पूर्ण नहीं हो पाती, वे माता के उदर मे ही मर जाते हैं। जिनके आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह प्रकारकी पर्याप्तियोकी पूर्णता नहीं है ऐसे जीवोंको सतशास्त्र सुनने का योग नहीं मिलता। और कदाचित् छह पर्याप्तियों की पूर्णता हो जाय, किन्तु वे अल्पायु हो तो वे बाल्यअवस्था मे ही मर जाते हैं। कदाचित् अधिक आयु मिली तो शुद्र इत्यादिक नीच कुलमे जन्म हुआ, और यदि अच्छा कुल मिला तो इंद्रियों की पूर्णता दुर्लभ हो गई, इंद्रियोंकी पूर्णता हुई तो निरोग शरीर मिलना दुर्लभ है, और यदि वह भी मिल गया तो जहा सत्शास्त्र आदिक का योग है, उस ग्राममे जन्म होना दुर्लभ है, और यदि किसी बड़े शहर मे जन्म हुआ तो भी जीव के धर्मवासना उत्पन्न होना दुर्लभ है और यदि किसी जीव के धर्मवासना उत्पन्न हुई तो वहा भी सच्चे देव,

गुरु का समागम पाना दुर्लभ है। और यदि कुदेव, कुगुरु का समागम मिल गया तो मनुष्य भव ही वर्बाद होगया, सच्चे देव-गुरु का समागम मिलना महान् दुर्लभ है। यदि दैवयोग से किसी को कदाचित् सच्चे देव-गुरु का योग भी मिल गया तो वह पुण्य की बाह्य क्रिया मे लग गया, वह यह मान बैठता है कि पूजा करो, दान करो, सयम का पालन करो और महाव्रत अंगीकार करो इससे धर्म होगा, इसप्रकार वह व्यवहार धर्म मे रत हो जाता है। यदि द्रव्य व्यय करने से धर्म होता हो तो बेचारे गरीबों के धर्म हो ही न सके। सच्चे देव-गुरु का सयोग प्राप्त करके भी अनेक जीव उपवासादि करने मे पिल पडते है और तप करने मे लग जाते है, वे उसी में धर्म मान बैठते हैं और इस प्रकार तत्त्व एक तरफ रह जाता है।

पाप करने की बात तो हो ही नहीं सकती, किन्तु अशुभ भाव को छुडाने के लिये शुभभाव का कथन आता है, वहां यह जीव शुभ को पकड बैठता है। किन्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय किये विना जन्म-मरण का अत नहीं हो सकता। कोई जीव तत्त्वका निर्णय तो करे नहीं और व्यवहार की वासना से उसे फुरसत न मिले किन्तु वह यह कहे कि इस धर्म चर्चा को समझने का काम क्या है? हमे समझ-समझ के आखिरकार करना तो यही है न? किन्तु भाई करना तो अतरंगमें कुछ और ही है। पहले तू वस्तु को तो समझ। वस्तु तत्त्व को समझलेने के बाद मालूम होगा कि तुझे क्या करना है।

कोई यह कहे कि केवली होने पर ही यह समझा जा सकता है, अभी हम यह कैसे समझ सकते हैं, अभी तो मात्र क्रिया करना है। यो माननेवाला कभी केवली तो नहीं होगा किन्तु केवल एक इन्द्रियवाला (निगोदिया) होगा। व्यवहार धर्म का अर्थ क्या है? यही कि मात्र वर्तमान मे राग का मंदभाव, उससे आत्मा के जन्म-मरण का अंत नहीं हो सकता। कदाचित् किसी जीव को सच्चे देव गुरु का संयोग मिल जाय और पूजा, दान, शील, व्रत, संयम इत्यादि व्यवहार धर्म की वासना उत्पन्न भले ही होजाय, किन्तु जिससे अनादिकालीन मिथ्यात्व रोग दूर होता है, विपरीतमान्यतारूपी क्षयरोग नष्ट होता है, ऐसे कारणो का मिलना तो उत्तरोत्तर महा दुर्लभ हैं। इस हीन कालमे जैनधर्म का यथार्थज्ञान और श्रद्धान पूर्वक चारित्रधर्म बहुत कठिन है, जब कि यह बात है तब जीवों को क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

तत्त्व का निर्णय करना भी एक धर्म है और उसका फल सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। जैनधर्मानुसार यथार्थज्ञान श्रद्धान पूर्वक चारित्र का होना मुश्किल है फिर भी तत्त्व निर्णयरूप धर्म तो बालक भी कर सकता है, आठवर्ष की बालिका हो या कोई वृद्ध पुरुष, प्रत्येक तत्त्व निर्णय कर सकता है। वृद्ध तो शरीर होता है, शरीर के वृद्ध होने से आत्मामें से तत्त्व निर्णय करने की शक्ति नहीं चली जाती। बाल, वृद्ध, रोगी, नीरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री कुक्षेत्री इत्यादि कोई भी जीव जो चाहे वह तत्त्व निर्णय कर सकता है। तत्त्व निर्णय भी धर्म है। धर्म मे रोटी के साधन की आवश्यकता नहीं होती, यदि

रोटी की परिपूर्णता होने पर ही धर्म होता हो तब तो धर्म पराधीन बन जायगा, धर्म का ऐसा स्वरूप नहीं है। चाहे जो व्यक्ति धर्म का निर्णय कर सकता है। सुक्षेत्र या कुक्षेत्र इत्यादि किसी भी परिस्थिति में तत्त्व निर्णय प्राप्त किया जासकता है।

इसप्रकार यहां यह बताया गया है कि किसके तत्त्व निर्णय हो सकता है और किसके नहीं। अब आगे यह बताया जायगा कि जिसके तत्त्व निर्णय हो सकता है उसे तत्त्व निर्णय करने के लिये क्या करना चाहिये।

卐

'जो पुरुष अपने हित का वांछक है उसे सर्व प्रथम यह तत्त्व निर्णयरुप कार्य ही करना चाहिये।' यह आत्मा अनादि काल से संसार परिभ्रमण कर रहा है, उसमें उसने इस तत्त्व का यथार्थ निर्णय एक क्षणभर के लिये भी नहीं किया कि वीतराग भगवान क्या कहते हैं। तत्व का स्वरूप समझे विना यह जीव अनंतवार पूजा, दान, शील और महाव्रत इत्यादि कर चुका है। किन्तु सच्ची समझ के विना इसे अभीतक यथार्थ सुख प्राप्त नहीं हुआ और परिभ्रमण का दुःख दूर नही हुआ।

सुख तो प्रत्येक जीव को प्रिय है किन्तु कर्मका नाश हुये विना सुख प्रगट नहीं होता, वीतरागता के विना कर्म का नाश नहीं होता, चारित्र के विना वीतरागता नहीं होती, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के विना चारित्र नहीं होता, तत्व का निर्णय हुये विना सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होता और सर्वज्ञ के आगम ज्ञान के विना तत्व का निर्णय नहीं होता। उस तत्व निर्णयरूप आगम का ज्ञान एक इंद्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक होने की योग्यता नहीं है। क्यो कि उनके तत्व विचार की ही शक्ति नही है मनुष्य भवमे भी यथार्थ श्रद्धानादि होना कठिन है। श्रद्धानादि का अर्थ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, इन तीनो का होना कठिन है, किन्तु मात्र सम्यक्ज्ञान तो बाल-गोपाल, रोगी-नीरोगी सभी कर सकते हैं यह बात कही जा चुकी है।

वीतराग देव ने क्या कहा है इस तत्त्व का निर्णय किये विना जीव अपनी मानी हुई हद मे उल्टी दौड़ लगा रहा है। वह इस बात का निर्णय नहीं करता कि उसने स्वयं क्या माना है और जिसे वह गुरु मान रहा है वे क्या कहते है और वीतराग का मार्ग क्या है ? वीतराग का मार्ग तो त्रिकाल मे एक ही होता है। सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहे गये तत्त्व निर्णय के बिना कदाचित् दया दानादिक मे कषाय को मंद करे तो शुभ भाव का पुण्य भले बांधले, किन्तु उसमें धर्म तो किंचित् मात्र नहीं होगा। जैसा कि वीतराग भगवान ने कहा है उसे समझकर उसमे स्थिर होना यही एक ही प्रकारका धर्म मार्ग है, इसलिये सर्व प्रथम तत्त्व निर्णयरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही योग्य है। इस जीव ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किये विना सेवा की, अनुकंपा की और करोड़ों रुपया दान मे दिये किन्तु वह यह नहीं समझ पाया कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? भगवान के नाम पर बड़े बड़े दान दिये किन्तु वह यह नहीं समझ सका कि भगवान ने क्या कहा है, इसलिये उसे धर्म नहीं प्राप्त हुआ। धर्म का मार्ग अपूर्व है. उसे यह जीव पहले कभी नहीं समझ सका। करोड़ों मे कोई एकाध जीव ही यह निर्णय कर पाता है, किन्तु जो जो निर्णय करना चाहे वे सब निर्णय कर सकते है।

शरीर की क्रिया अथवा रुपया पैसा वगैरह से धर्म तो क्या किन्तु पुण्य भी नहीं होता। रुपये पैसे से यदि तृष्णा घटाई जाय तो पुण्य होता है किन्तु धर्म नहीं होता- जन्म-मरण का अंत नहीं होता। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के

निर्णय के बिना और भगवान आत्मा का अर्थात् अपना स्वरूप क्या है इसका निर्णय हुये बिना तीन काल और तीन लोक मे न तो किसी जीव की मुक्ति हुई है, न होती है और न होगी। इसलिये जो जीव अपना हित करना चाहता है उसे सर्व प्रथम यह तत्त्व निर्णय रूप कार्य करना चाहिये। अब यहां कहते हैं कि तत्त्व निर्णय करने मे कोई हानि नहीं हैः—

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशान्तरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो नतुभयं पीड़ा न कस्माच्च न ॥
सावद्यंन न रोग जन्म पतनं नैवान्य सेवा न हि।
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियंते बुधाः ॥
(तत्त्वज्ञान तरंगिणी अध्याय ४ कलश १)

चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा सिद्ध समान इस देहरूपी मंदिरमे चैतन्यमूर्ति है, उस आत्मा के निर्णय करने मे-स्मरण करने मे क्लेश नही होता, धन की आवश्यकता नहीं होती और धन खर्च नहीं करना पडता। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिये कि धनकी तृष्णा रखकर आत्मा का विशेष निर्णय होता है। धनकी तृष्णा को तो पात्र जीव कम करता ही है किन्तु धनकी तृष्णा कम करने से पुण्य होता है धर्म नहीं। आत्मा को पहिचानने के लिये धन का खर्च नहीं करना पड़ता, अर्थात् धन का खर्च करने से आत्मा नहीं पहिचानी जाती।

पैसा खर्च करके धर्म माननेवाले से कहते हैं कि भाई! धन खर्च करके धर्म को मनवाने वाले कुगुरु तो तुझे अनंत-बार मिले और तूने भी उसमे धर्म मान लिया किन्तु उसमे

धर्मका होना अशक्य है। आत्मा को पहिचाने बिना किसी को भी तीनकाल और तीनलोक मे धर्म नहीं हो सकता। आत्मा को पहिचानने के लिये न तो देशांतर जाना पडता है और न किसी कि भक्ति ही करनी होती है, किसी की भक्ति करने से धर्म नहीं होता, तीर्थंकर भी किसी को मोक्ष नहीं दे सकते। भगवान का बल भगवान के पास होता है वह किसी के काम नहीं आ सकता। भगवान ने सत्य मार्ग बताया है, जो जीव उसे समझलेता है उसकी मुक्ति होती है। जो सच्चे मार्ग को समझता है उसके निमित्त के रूपमे भगवान के प्रति बहुमान होता है किन्तु भगवान किसी को कहीं समझा नहीं देते और आत्मा का निर्णय करने मे शक्ति का क्षय नहीं होता, प्रत्युत आत्मा की पहिचान से गुण की वृद्धि होती है। अर्थात् निर्मल दशा प्रगट होती है और वह सावद्य नहीं है अर्थात् आत्मा की पहिचान करने मे किसी की हिंसा नहीं होती और उसमे न तो रोग है और न जन्म मरण। आत्मस्वरूप की पहिचान करने के लिये किसी की सेवा भी नहीं करनी पड़ती, इसप्रकार आत्मा की पहिचान करने मे कोई कठिनाई नहीं है और उसकी पहिचान करने का बहुत बड़ा फल है। तब फिर हे सयाने पुरुषो ! उसे क्यो नहीं स्वीकार करते ?

परसे बिल्कुल भिन्न भगवान आत्मा अनंतगुणों से युक्त विराज रहा है किन्तु निजको उसकी (अपनी आत्मा की) पहि-चान अनत कालसे नहीं है। उसकी पहिचान करने में कोई कठिनाई नहीं है, उस चिद्रूप आत्मा के स्मरण करनेका बहुत बडा फल है, तब फिर सयाने पुरुष ऐसे तत्त्वज्ञान को क्यों

नहीं स्वीकार करते? इसका उत्तर यह है कि इस जीव को अनंतकाल में सत्समागम के द्वारा आत्म-तत्त्व की रूचि ही उत्पन्न नहीं हुई। यह माननेवाला बिलकुल पाखंडी है कि सबकी सेवा करने से और सबको भला कहने से धर्म हो जायगा। जो समस्त धर्मों को एक मानकर जैनधर्म का अन्य धर्मों के साथ समन्वय करना चाहते हैं वे वीतराग देव के कहे हुये तत्वका खून करते हैं। अमृत के साथ विष का समन्वय नहीं होता। जो तत्व निर्णय नहीं करता उसके आत्मा का कल्याण कभी नहीं हो सकता और उसका परिभ्रमण नहीं मिटता इसलिये जो तत्व निर्णय के सन्मुख होकर तत्व निर्णय नहीं करता उसे उलहना देते हुये कहते हैं कि:—

साहीणे गुरु जोगे जेण सुणंतीह धम्मवयणाइं।
ते धिट्ठ दुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभय विहूणा॥
(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

जिसको सत्समागम-सद्गुरुओं का योग मिलता है फिरभी जो धर्म वचनों को नहीं सुनते, तत्व निर्णय नहीं करते, वे दुष्ट और ढीठ मनवाले मूर्ख हैं। अरेरे! अनंतकाल में यह नरभव मिला, फिरभी चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा की पहिचान नहीं करता अब तेरा अवतार कहां होगा? तुझे कहां शरण मिलेगी? जो यह निर्णय नहीं करता कि आत्मा देह, मन और वाणी से भिन्न है और सत्समागम मिलने पर जिसे सुनने की भी फुरसत नहीं मिलती वह दुष्ट है, वह अपने विषय में बेदरकार है। जो भगवान के मार्ग को नहीं समझते वे भवभय हीन सुभट हैं। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान भी

संसार से भयभीत हुये और स्वस्वरूप का भानकर संसार सागरसे पार हो गये। जिस संसार से भगवान भी डरे उस संसार के भय से न डरने वाले तीसमारखां के बेटे हैं— वे सब विपरीत योद्धा हैं।

जो वीतरागदेव इसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं किन्तु जो अभी राजपाट मे लगे हुये हैं उन्हे वहां यह भानतो है कि यह राग मेरा स्वरूप नहीं फिर भी वे विचार करते हैं कि अहो जबतक इस राग को नहीं छोड़ेंगे तबतक वीतरागता नहीं आयेगी। यों विचार करके वे भी संसार से (रागद्वेष से) हट गये और स्वरूप मे स्थिर हो गये-स्वरूपमें समागये। जिन्हें इस संसारसे भय नहीं लगता वे विपरीतता मे महा सुभट हैं, वे संसार की होली जलाने के लिये हमेशा तैयार रहते हैं, वे पढ़ाई मे कई वर्ष व्यतीत कर देते हैं किन्तु आत्माको समझे विना वह पढ़ाई किस काम की। आत्मा की पढ़ाई के सिवाय अन्य पढ़ाई पढ़ाई ही नहीं है। आत्मा की पहिचान के विना सारा समय बडाई झगड़ा पंचायत और संघ की होली मे ही चला गया. किन्तु वह यह निर्णय नहीं करता कि वीतराग भगवानने क्या कहा है। वह मरकर कहां जायगा? ज्ञानी व्यवहार धर्म में लीन नहीं होता वह तो स्वरूपकी अस्थिरता है इसीलिये दया-व्रत-पूजा इत्यादि के शुभभाव आ जाते हैं। जो वकालत, नौकरी, व्यापार और खान-पान इत्यादि मे लगा रहता है और उसी मे लीन हो जाता है वह 'अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि' के पद को पाता है। उसकी मान्यता सर्वज्ञदेव से विपरीत है इसलिये वह वीतराग का शत्रु है। वह दो प्रकार

से पापी है, एक तो विषय कषायादि के अशुभभाव का पाप और दूसरे सर्वज्ञदेव से विपरीत मानता है इसलिये उस विपरीत मान्यता का अनतगुणा पाप है।

यदि कोई जीव सम्यग्दर्शन के विना व्रत, तप, भगवान की भक्ति, पूजा, दान इत्यादि क्रिया करे तो भी उसमें पुण्य है धर्म नहीं। यदि पूजा, दान इत्यादि मे राग को घटाये तो पुण्य होगा, किन्तु धर्म नहीं होगा। उससे जन्म मरण का अत नहीं होगा, भव का नाश नहीं होगा, वह श्रावक नहीं कहलायेगा, जैन नहीं कहलायेगा-आत्मभान के विना व्रत, तप, पूजा, भक्ति सब कुछ करे तो भी वह जैन नहीं है।

प्रश्न—अरे! उसे जैन मे से भी अलग कर दिया।

उत्तर—वह जैन था ही कब? यह जैन मे से अलग करने की बात नहीं है किन्तु अजैन मे से जैन बनाने की बात है।

जो पहले कहा है वह अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है और दूसरा शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि। वह व्रत करता है, उपवास करता है, पूजा भक्ति करता है दान करता है-इन सब कार्यों में मद राग करके पुण्यबध करता है किन्तु 'मै कौन हूं' इस वस्तु का निर्णय नहीं करता और अपने निर्णय के विना व्रत तप, सयम, नियम इत्यादि अनेक प्रकार की शुभभाव की क्रिया गं किया करता है, ऐसी स्थिति मे वह पुण्य मे मग्न है—व्यवहार मे लीन है, उसे भगवानने धर्मी नहीं कहा है।

प्रश्न—आप तो ऐसी बात कहते हैं जिससे झगड़ा खड़ा हो जाय।

उत्तर—यह ऐसी बात नही है जिसमें झगड़ा खड़ा होजाय किन्तु यह तो झगडे को टालने की बात है। यदि कोई इस बात को समझ ले तो एक भी झगड़ा न रहे।

यह बात नहीं है कि जिसे सारा संसार मानता है वह मार्ग सच्चा है किन्तु वीतराग देवने क्या कहा है इसे यथार्थ समझ लेना ही सच्चा मार्ग है। आत्मा को पहिचाने बिना यदि कोई व्रत, तप, दान इत्यादि करे और उसमें अभिमान करे तो उसके शुभभाव भी नहीं है। यदि वह व्रत, तप, दान इत्यादि मे शुभराग करे, अभिमान न करे तो शुभभाव होगा, किन्तु यदि वह उसमें धर्म माने तो वह भी है तो वीतराग का शत्रु ही।

भगवान आत्मा देह, मन, वाणी की क्रिया से रहित चिदानन्द परका अकर्ता है, पुण्य–पाप उसका स्वरूप नहीं है, ऐसे आत्मा के भान के विना जो व्यवहार धर्म क्रिया में–शुभ क्रिया मे लीन है वह भगवान का शत्रु है, शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है। उसके परिणाम मे वर्तमान शुभ भाव है किन्तु शुभभाव करते करते मिथ्यादृष्टिपना तीनकालमे भी नहीं टल सकता। प्रत्युत शुभ करते करते उसे लाभकारक मानने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। शुभभाव राग है, राग करते करते अरागी स्वभाव की दृष्टि तीनकाल मे प्रगट नहीं होती। पुण्य करते करते न तो धर्म होता है और न सम्यक्त्व ही प्रगट होता है इस बात का गले उतरना मुश्किल है किन्तु जिन्हें जन्म मरण का अंत करना है उन्हें इसबात को गले उतारे विना दूसरा कोई चारा नहीं है।

जो जीव भगवान के द्वारा कथित आत्मस्वरूपकी पहिचान नहीं करता और यह निर्णय नहीं करता कि मेरा स्वभाव नि श क भव भाव रहित और भव रहित है तबतक वह यदि देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति, तप, व्रत, दान इत्यादि सब कुछ करता रहे तो भी उसमें पुण्य है धर्म नहीं है। जो भगवान के द्वारा कहे गये परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि अधर्मी है।

ग्रंथकार कहते हैं कि तुमने महाभाग्य से यह मनुष्य देह पाई है इसलिये जो वीतराग प्ररूपित सर्व धर्म का (आत्मा के सभी धर्मों का) पहला मूल सम्यग्दर्शन है और उसका मूल तत्त्व निर्णय है तथा तत्त्व निर्णय का मूल जो शास्त्राभ्यास है, उसे अवश्य करना चाहिये। जो व्रत तप की वृत्ति उत्पन्न होती है वह भी तत्त्व का स्वरूप नहीं है तब फिर तत्त्व का स्वरूप क्या है? इसका निर्णय करने के लिये शास्त्राभ्यास करना चाहिये। तत्त्व का स्वरूप समझे बिना शास्त्र की गादीपर बैठने वाला धर्मोपदेशक कहता है कि "भगवानने घोर तपस्या की थी, उनने अन्न को अन्न समझकर नहीं खाया, पानी को पानी समझकर नहीं पिया, सुखपूर्वक निद्रा नहीं की और भारी कष्ट सहन किये।" तब सुननेवाले कहते हैं कि 'जी महाराज'। किन्तु अरे! क्या भगवान को तपस्या दुःख था, क्या धर्म कष्टदायक होता है? भगवान के अ तरस्वरूप को तो तुम जानते नहीं तो फिर तपस्या के स्वरूप को तुम कैसे जान सके? भगवान तो तत्त्व के अनुभव की लहर में थे, स्वरूप के अपूर्व आनंद मे लीन थे। अ तरस्वरूप की लीनता मे आहार

इत्यादिक सहज ही छूट गये थे। जो अंतर्स्वरूप को नहीं समझता किन्तु धर्मगादी पर बैठकर बोलनेवाले की हां में हां मिलाया करता है वह पात्र जीव के लिये शोभास्पद नहीं है। अरे! ऐसा सु अवसर मिला है उसे जो व्यर्थ गंवा देता है और तत्त्व निर्णय नहीं करता उस पर दया करके आचार्य कहते हैं कि:—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्य जन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥

(आत्मानुशासन)

पहले तो इस जगत मे बुद्धि का होना ही दुर्लभ है और फिर उसमे भी परलोक के लिये बुद्धि का होना तो और भी अधिक दुर्लभ है। वणिक हो इसलिये बुद्धि तो मिली है किन्तु वीतराग भगवान के द्वारा कहे गये मार्ग का यथार्थ श्रवण नहीं किया। हे भाई! सुनो तो तनिक वीतराग का मार्ग, यह मार्ग अपूर्व है। आज से पहले इसे कभी नहीं जाना था। यह अवसर मिलने पर ही जो इसे व्यर्थ ही गंवा देता है उसपर ज्ञानियों को करुणा आती है।

सच्चा जैन किसे कहा जाय? जो यह मानते हैं कि सभी धर्मसमान हैं वे तो व्यवहार जैन भी नहीं है। जैनधर्म तो आत्मा का स्वरूप है, विश्वदर्शन है, उसका स्वरूप तीनकाल और तीनलोक में भी नहीं बदल सकता, जिनने छह द्रव्यों को जान लिया है, (छह द्रव्यों मे अपना आत्मा भी आजाता है) रागद्वेषको दूर करते है वे ही आत्मा सच्चे जैन है। सच्चा

जैनी होने के लिये सर्व प्रथम आगमद्वारा तत्त्व का निर्णय करना चाहिये किन्तु जो तत्त्व का निर्णय नहीं करते और वक्ता की हा मे हा मिलाने के लिये पताका की पूछ की तरह अपना सिर हिलाया करते है, उन्हे तत्त्व की खबर नहीं है। इसलिये वे व्यवहार जैन नहीं हैं। जो तत्त्व का निर्णय नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, सतोष, इत्यादि सब कार्य किया करता है उसके यह सब कार्य व्यर्थ हैं। इसी शास्त्र (सत्तास्वरूप) मे आगे कहा है कि— "जो सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय नहीं करता और कुल परपरा से पचायत के आश्रय से अथवा मिथ्या धर्मबुद्धि से दर्शनपूजनादि रूप प्रवृत्ति करता है अथवा जो मत पक्ष के हठाग्रहके कारण दूसरो (देवी देवताओं) को न भी माने और मात्र उसका (स्वयं माने हुये जिन देवादिक का) ही सेवक बना रहे उसे निश्चय ही अपने आत्मकल्याणरूप कार्य की सिद्धि नहीं होती इसलिये वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है, जब कि वह सर्वज्ञ की सत्ता का ही निश्चय नहीं कर सका तब वह स्वस्वरूप का निश्चय कैसे करेगा ?"

जो भगवान के पास जाकर पूजा, स्तोत्र इत्यादिक तो करता है किन्तु जिसे यह निर्णय नहीं हो सका कि भगवान कौन है और मै कौन हूं ? वह केवल बचाव के लिये यह कहता है कि 'हम पचमकाल के अल्पबुद्धिवाले प्राणी है इसलिये हम तत्त्व का निर्णय नहीं कर सकते।' इसप्रकार वह छूट नहीं सकता। तत्त्व निर्णय में किसी भी प्रकार की 'ननु नच' नही चल सकती। ससार के काम मे तो तेरी बुद्धि चलती है वहां तुझे

पंचमकाल बाधक नहीं होता और इस तत्त्व निर्णय में तेरी बुद्धि नहीं चलती, यह बात ही गलत है।

तत्त्व निर्णय के बिना त्याग किसका करेगा। जो समझने लायक है उसे समझता नहीं है और त्याग-वैराग्य मे लगकर भी आत्मभान के बिना त्यागी हो जाता है किन्तु इसमे भी धर्म नहीं है और वैराग्य (मंदराग) भी वस्तु का स्वरूप नही है। वैराग्य तो पुण्यभाव है, उसमे धर्म नहीं है। संयम का पालन करे परिग्रह को कम करे, एक बार रसोई बनाकर उसे दो बार के लिये चलावे, इसमे वह मान बैठा है कि प्रवृत्ति कम होगई और अमुक रकम से अधिक न रखकर उससे संतोष मानलेता है, किन्तु आत्मभान के बिना वीतराग की तराजूमे उसके त्याग और संतोष इत्यादिक की धर्म मे कोई गिनती नहीं है। वीतराग मार्ग के निर्णय के बिना धर्म हो ही नहीं सकता। आत्मा के निर्णय के बिना व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि समस्त कार्य असत् हैं।

कुछलोग कहते है कि अरेरे! हमारा सब गलत है? किन्तु यह तो विपरीत मान्यता के ऊपर भयंकर प्रहार है। जगत इतनी सी क्रिया करके समझता है कि अब तो मोक्ष हो ही जायगा, किन्तु आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के बिना वह सब असत् है। आत्माको समझे बिना व्रत, तप, इत्यादिक करना बिना इकाई के बिन्दी के समान है।

पुण्य करते करते धर्म होना अशक्य है। कुछ लोग यह हिसाब लगाते है कि 'पुण्य करेंगे तो देव होंगे और उसके बाद भगवान के पास जाकर धर्म प्राप्त करेंगे, इसलिये हम अभी

पुण्य करले, इस समय समझनेकी आवश्यकता नहीं है.' किन्तु ऐसी मान्यता वाले धर्मको तो प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु नीचे उतरते जाते है। आत्मा का निर्णय किये विना शुभभाव करके यदि कोई देव हो भी गया तो उससे क्या होने जाना वाला है। वह पुण्य से लाभ मान कर अपने गुणों को ही नष्ट कर रहा है।

आत्मा का भान प्राप्त किये बिना प्रत्येक जीव प्रतिक्षण अरबो रुपया पैदा करवनेवाला बहुत बड़ा राजा अनतवार हुआ, स्वर्गका बहुत बडा देव भी अनतवार हुआ और ऐसा विक्रिया ऋद्धिवाला देव भी हुआ जो एक कल्पना मात्र करके करोडों द्वारका नगरियों, करोडो कृष्ण और करोडो गोपियोंको बना सकता है। किन्तु भाई! आत्माका भान किये बिना तेरा उद्धार न हुआ और चौरासी के अवतार का अत न हुआ।

प्रश्न:—आपने कहा कि दया, दानादि मे धर्म नहीं है तो इससे तो पैसेवालोंकी बन आयेगी। क्यो कि अब वे पैसा क्यों खर्च करेगे ?

उत्तर:—हमने यह तो कहा है कि दान इत्यादि मे धर्म नहीं होता, किन्तु यह कब कहा है कि तृष्णा कम नहीं करना चाहिये। पहले तृष्णा तो कम करे, तृष्णा कम करने के लिये कौन इनकार करता है। तृष्णा कम करने मे धर्म नहीं है, किन्तु यदि वह तृष्णा ही न घटाये तब तो पाप भाव मे ही जायगा। तत्त्वका निर्णय करने के लिये सब से पहले भगवान के द्वारा कहे गये आगम का सेवन करना चाहिये। इस कथन मे यह भी निहित है कि सच्चा आगम क्या है? इसका

निर्णय कर लिया जाय। युक्तिका अवलंबन चाहिये अर्थात् धर्म तो अपूर्व वस्तु है, वह ऐसी वस्तु है जिसे अनादि से कभी प्राप्त नहीं किया। यह साधारण वस्तु नहीं है, जो ऐरे गैरे कहते हैं वह सच्चा मार्ग नही है। क्योंकि जैसा वे कहते हैं वैसा तो अनंतवार किया जा चुका है, किन्तु संसार परिभ्रमण नहीं मिटा। इसलिये धर्म वस्तु भिन्न ही है, इस प्रकार सत्‌शास्त्र द्वारा तथा प्रबल युक्तियों द्वारा निर्णय करना चाहिये। तथा परंपरा गुरुओंका उपदेश और स्वानुभव इन चारों द्वारा तत्वका निर्णय करना चाहिये। यदि यह चारों प्रकार इकट्ठे हो जाय तो आत्मा की पहिचान हो जाय।

आदमी संसार के कामकी विधि बराबर समझता है वह उस विधि में उलटा सीधा नहीं करता। हलुआ बनाना हो तो पहले घी में आटेको सेकता है और उसके बाद शक्कर का पानी डालता है, किन्तु पहले शक्कर के पानी मे आटेको डालकर सेके तो हलुआ नहीं बनेगा। इसी प्रकार धर्म के लिये भगवानने पहली विधि आत्मा का निर्णय करना बताई है, उसको समझे बिना यदि उलटा सीधा करे तो धर्म नहीं होगा। जबतक आत्मा के स्वभाव का तत्व से यथार्थ निर्णय नहीं किया जाय तबतक जितने भी व्रत, तप आदि किये जाते हैं वे सब शक्कर के पानी मे आटे को सेक कर हलुआ बनाने के समान हैं, जो कभी भी नहीं हो सकता। यदि विधि मे फर्क पड़ जाय तो निश्चित कार्य नहीं होता। धर्म की विधिमे पहले आत्मा का निर्णय करने के रूप मे जो सम्यग्दर्शन है वह घीमें आटे को सेकने के समान

है और सम्यग्दर्शन के विना व्रत, तप इत्यादि सब कुछ करने लग जाय तो वह शक्कर के पानी मे आटे को सेकने के समान है। तात्पर्य यह है कि पहले सम्यग्दर्शन रूपी विधि के विना धर्म नहीं होता।

तत्व निर्णय के लिये जिनवचन चतुरनुयोगमय हैं, यह रहस्य ज्ञातव्य है, उसमे पहले द्रव्यानुयोग मे द्रव्य का कथन होता है। दूसरे चरणानुयोग मे राग को घटाने और परिणामको सुधारने के लिये निमित्तकी प्रधानता से कथन होता है। तीसरे चरणानुयोग मे परिणामो की और स्वर्गलोक, मध्यलोक और अधोलोकको रचनाकी बात होती है। और चौथे प्रथमानुयोग मे धर्मकथाये होती है। सभी पहलुओ से मेल करके तत्व का निर्णय करना चाहिये। जो ऊपर कहा गया है पहले उसका मेल तो करो। जैसे किसीने प्रीतिभोज दिया वहां किसी लडके से कह दिया यदि दाल शाकमे नमक मिर्च कम हो तो नमक मिर्चकी थाली लेकर घुमाना, इससे लोग आवश्यकतानुसार नमक मिर्च ले लेंगे। लेकिन किसीकी थालीमे भोजन ही न परोसा गया हो और सब से पहले वह लड़का नमक मिर्च की थाली लेकर परोसने लग जाय तो जीमनेवाले भोज्य सामग्री आये विना वह नमक मिर्च किसमे डालेंगे। इसलिये वहां पर भी मेल किया जाता है। पहले भोजन परोसा जाता है और उस के बाद नमक मिर्चकी थाली घुमाई जाती है, इसीप्रकार यहां भी धर्म करने के लिये मेल विठाना चाहिये। आत्मा क्या वस्तु है, नवतत्व क्या हैं? इत्यादि का निर्णयरूप माल (भोजन) न हो किन्तु नमक मिर्च

(व्रत, तप) की थाली फिरादें तो उससे धर्म नहीं होगा। यदि कोई आत्मा का निर्णय किये बिना व्रत तप करने लग जाय तो वह बिना भोजन के मात्र नमक मिर्च के समान हैं।

भगवान के वचन अपार हैं, श्री गणधरदेव भी उनका पार नहीं पा सके। इसलिये वीतराग द्वारा कहे गये तत्त्व में प्रयोजनभूत वस्तु का पहले निर्णय करना चाहिये। यदि प्रयोजनभूत वस्तु मे फर्क आ गया तो तत्व का निर्णय नहीं होगा। संसार मे हम देखते है कि किसी के दो दुकानें हैं, उनमें एक है हीरा माणिक की और दूसरी है विनौले की। उनमे से हीरा माणिक की दुकाने मे नफा हो और विनौले की दुकान में नुकसान हो तो वह नुकसान पूरा हो सकता है। किन्तु यदि हीरा-माणिक की दुकान मे नुकसान हो और विनौले की दुकान में लाभ हो तो हीरामाणिक की दुकान की हानि पूरी नहीं की जा सकती। वहां व्यापारी हीरा की दुकान की ओर बराबर ध्यान रखता है क्योंकि मूल रकम हीरा की दुकान मे है। इसीप्रकार आत्मा के स्वरूप के निर्णय में जो भूल होती है वह जवाहरात की दुकान की हानि की तरह है और जो दया, दान, भक्ति इत्यादिक पुण्यभाव मे लगना है सो विनौले की दुकान के मुनाफे की तरह है। किन्तु उस मुनाफे से उस नुकसान की पूर्ति नहीं हो सकती जो नुकसान स्वरूप निर्णय की भूल से होता है।

पहले हम काश्तकार का उदाहरण दे चुके हैं उसमें जब यह नगद रकम का इनकार करता है तो उसे बहीखाते में से कैसे निकाला जाय। इसी प्रकार प्रयोजन भूत रकम का

निर्णय किये विना यदि कोई पुण्य करता है तो उसमे धर्म नही है। इसलिये चौरासी के वही खाते मे से उसका छुटकारा नहीं हो सकता, इसलिये हे जीव! तुझे यही सीखना चाहिये कि जिससे जन्म-मरण का नाश होता है ऐसे तत्त्व का निर्णय सबसे प्रथम करना योग्य है। संसार भले पागल कहे या निंदा करे, किन्तु इस तत्त्व का निर्णय करने से चूकना नहीं चाहिये। श्री समयसारजी मे कहा है कि:— "तू एकवार जिज्ञासा तो कर कि यह तत्त्व क्या है? सारी प्रतिष्ठा मे, कीर्ति मे, धन-संपत्ति मे और कुटुंब इत्यादि मे अपनापन मानकर जो उसमे एकतान होरहा है उसे भूलकर भीतर आत्मा मे एकवार डुबकी लगाकर उसकी तहतक पहुंच जाय। जैसे कोई गोताखोर कुए मे डुबकी लगाकर उसकी तहतक पहुंच जाता है उसी प्रकार आत्मा की तहतक पहुंचनेका प्रयत्न करो। दुनिया को भूलकर—अरे मरकर भी अंतर्तत्त्व क्या है यह जानने के लिये आत्मा के भीतर एकवार कूद तो जा। मरकर भी अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता और कठिनाइयो को झेलकर भी एकवार प्रयत्न तो कर। तूने अनंतवार शरीर के लिये आत्मा को गलाडाला अब एकबार आत्मा के लिये देह को भी गला दे जिससे भव न रहे। दुनिया को भूल जा, दुनिया की चिंता को छोड़कर आत्मरसमे मस्त हो जा और पुरुषार्थ करके अंतर्पट को फाडदे।

जैसे लोग किसी पैढी को चलाते हुये अमुक लाभदायक मुख्य वस्तुका व्यापार करते हैं, उसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी धर्मकी जाज्वल्यमान पेढ़ी में मूल प्रयोजनभूत अनेक

रकमे हैं उन्हें निर्णयपूर्वक अवश्य जानना चाहिये। कहा भी है कि—

अंतोणत्थि सुईणं कालो थोओवयं च दुम्मेहा।
तंणवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि ॥९८॥

(पाहुड-दोहा)

श्रुतियां अनत हैं और काल थोड़ा है तथा हम अल्प बुद्धिवाले हैं, इसलिये हे जीव! तुझे वह सीखना चाहिये जिस से तू जन्म-मरणका नाश कर सके। मोक्षमार्ग मे कौन कौन सी वस्तुएं आवश्यक हैं, उनमे से कुछ यहां वताई जाती है—

(१) जिनधर्म—त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी धर्मकी जाज्वल्यमान पेढ़ी, जहां आषाढी मेघकी मूसलधार के समान शुद्धमार्ग प्रवर्तित करने वाली वाणी खिर रही हो उसके मार्गका क्या कहना। जिनधर्म ही परम सद्धर्म है, उसे पहचान कर उसके द्वारा निर्णय करना चाहिये।

(२) जिनमत—जिनने आत्मा के स्वभाव से रागद्वेषको जीत लिया वे जैन हैं। उनका मत क्या है, वे क्या कहते हैं? यह जानना चाहिये।

(३-४) देव-कुदेव—अरहंत और सिद्ध दोनो देव हैं उन मे से अरहंत देव किसे कहते हैं, उनका लक्षण क्या है? यह जानना चाहिये। जो उनसे विरुद्ध है वे कुदेव हैं।

(५-६) गुरु-कुगुरु—सच्चा गुरु कौन है? कोई वेष धारण कर लेने से ही गुरु नहीं होजाता। प्रत्येक अपने को

सच्चा ही कहलवाता है किन्तु उनमें सच्चा कौन है ? दम्भी कौन है ? इसका निर्णय करना चाहिये ।

(७-८) शास्त्र-कुशास्त्र—अनेक शास्त्र है उनमे से सच्चे कौन से हैं और खोटे कौनसे है ? त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी वाणी में कहे गये तत्त्व के स्वरूप को बताने वाले शास्त्र कौन से है ? और उनसे विरुद्ध कौनसे है इसका निर्णय करना चाहिये ।

समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वो का यथार्थ निर्णय करना चाहिये । प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता । जो प्रयोजनभूत तत्त्व कहे जाते है उनमे से आठ के सबध मे कहा जा चुका है । अब विशेष आगे कहेंगे ।

卐

तत्वज्ञान का निर्णय करने के लिये मूल रकम-प्रयोजनभूत रकम कौन कौनसी है? यह बताते है। वीतराग के कहे हुये मार्ग मे आत्मस्वभाव क्या है, यथार्थ तत्त्व क्या है, और विपरीत माने हुये तत्त्व क्या हैं? इनका निर्णय किये विना धर्म के नाम पर त्याग करे, तप करे, व्रत, दान इत्यादि की शुभ प्रवृत्ति करे और उसमें कषाय को कम करे तो पुण्य होगा किन्तु धर्म नहीं होगा। जिससे जन्म मरण मिटता है ऐसे वीतराग के द्वारा कहे गये मूल तत्त्व के यथार्थ ज्ञान के बिना जितने व्रत तपादिक कार्य हैं वे सब विना इकाई के शून्य के समान हैं। जिनधर्म क्या है, और सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहे गये यथार्थ मत क्या है? इसे जानना होगा। जगत मे सभी जीव अपने माने हुये देव को ही सच्चा देव कहते हैं। धर्म के नामपर सब कहते है कि हम अपने देव गुरु की आज्ञा को मानते है, किन्तु परीक्षा के द्वारा सत्य असत्य का निर्णय किये बिना यदि कोई सच्चे देव गुरु को माने तो भी वह झूठा है। उसमे और अन्य मतावलम्बी मे किंचित् मात्र अंतर नही है। इसका विशेष कथन आगे किया जायगा।

जिन धर्म को समझने वाले और समझानेवाले सच्चे गुरु कैसे होते हैं? यह जानना चाहिये। जिसने बहिरंग में साधु का वेष धारण करलिया हो और बाह्य क्रियाओं का बराबर

पालन करता हो, किन्तु अंतरंग में गुणों की अपेक्षा से गुरुत्व की योग्यता न हो तो वह कुगुरु है।

इससे पूर्व प्रयोजनभूत वस्तुओं मे से आठ का विवेचन किया जा चुका है। अब उससे आगे का विवेचन यहा करते हैं।—

(९-११) धर्म-अधर्म कुधर्म—धर्म वस्तु का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। जिसमे धर्म की कोई खबर ही न हो वह अधर्म है। अथवा उस तरफ कोई रुचि ही न हो वह अधर्म है। धर्म तो वस्तु का सनातन स्वभाव है, यह कोई साधारण नहीं है। चार ज्ञान के धारी गणधरदेव और इंद्र चक्रवर्ती इत्यादि महान व्यक्ति जिस का आदर करते है ऐसा धर्म वह नहीं हो सकता, जैसा कि साधारण ऐरे-गैरे लोग कहते हैं। धर्म तो अपूर्व वस्तु हैं। धर्म के नाम पर बहुत से लोग उपदेश करते है कि खूब पुण्य करो, उससे धर्म होगा। पुण्य कर करके पुण्य का समुद्र उछला दो, उससे पुण्य प्रवाहित होकर धर्म प्रगट होगा। उसका अर्थ यह हुआ कि विष को पीते पीते अमृत का स्वाद आ जायगा। यों कहने वाले अपने धर्म का स्वरूप नहीं समझे हैं। पुण्य तो बंध भाव है। जिस भाव से पराधीनता होती है, जिससे बंधन होता है उस भाव से स्वाधीनता रूपी धर्म का अंश भी नहीं होगा। धर्म के स्वरूप से जो विपरीत मान्यता है वह कुधर्म है। जहां पर हित और अहित का किंचित् मात्र भी विचार नहीं है और जिस मार्ग की ओर कोई रुचि ही नहीं है, वह अधर्म है।

(१२-१३) हेय-उपादेय---कौन कौन से तत्त्व ग्रहण करने योग्य है और कौन कौनसे त्याग करने योग्य हैं इसका निर्णय करना चाहिये।

सच्चे देव-गुरु और धर्म का संशय रहित ठीक ठीक निर्णय करना चाहिये। अज्ञानता बचाव नहीं, किन्तु दोष है। लोग कहते हैं कि "अंधे की गाय का अल्ला रखवाल" यह बात यहां पर धर्म मे नहीं चल सकती। यहां तो जन्म--मरण को मिटाने की बात है। परम सत्य धर्म मे अंध श्रद्धा से काम नहीं चल सकता। यह तो स्वरूप मार्ग है, अनंत तीर्थंकरों का मार्ग है, उसमें तत्त्व की श्रद्धा में किंचित् मात्र भी कमी नहीं चल सकती।

(१४-१६) तत्त्व-अतत्व-कुतत्व---सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये नवतत्त्वों का स्वरूप क्या है? तत्व से विपरीत क्या है? अज्ञानियों के द्वारा माना गया तत्व का स्वरूप जो कुतत्व है वह क्या है और केवल झूठी बातों से कल्पना द्वारा दूसरों का माना हुआ तत्व क्या है? इस सबका यथार्थ निर्णय आगम के द्वारा करना चाहिये।

(१७-१९) मार्ग-कुमार्ग-अमार्ग---सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया मोक्ष का मार्ग क्या है? उससे विपरीत कुमार्ग क्या है? और जहां पर हिताहित का बिलकुल विचार ही नहीं है, मार्ग की ओर झुकाव ही नहीं है, ऐसा अमार्ग क्या है? यह जानना चाहिये।

प्रश्न---अमार्ग मे तो मार्ग की ओर झुकाव ही नहीं है, तब उस अमार्ग से तो कुमार्ग ही अच्छा है न?

उत्तर--इन दो मार्गों में से एक भी मार्ग ठीक नहीं है। जहां सत्य समझ मे नहीं आता वहां यदि असत्य को घुसेड दिया जाय तो उस मार्ग को ठीक कैसे कहा जायगा? कुमार्ग और अमार्ग दोनो ही खराब है।

(२०-२१) संगति--कुसंगति---सत्संग क्या है? और असत्संग क्या है? तथा यथार्थ बात कहां से मिलती है यह बात जानना चाहिये।

(२२-२३) संसार-मोक्ष---संसार और मोक्ष किसे कहना चाहिये? स्त्री, मकान, लक्ष्मी, कुटुंब इत्यादि पर पदार्थों में आत्माका संसार नहीं है किन्तु शरीर मेरा है, मै परका कुछ कर सकता हू, पुण्य से मुझे लाभ होता है, पुण्य करते करते धर्म होता है इस प्रकारकी जो विपरीत मान्यता है सो संसार है। वह आत्माकी क्षणिक विकारी अवस्था है और पुण्य पाप रहित स्वभावका भान तथा स्थिरता द्वारा संपूर्ण पवित्रता रूप जो अपनी निर्मलदशा है सो मोक्ष है, वह भी आत्मा की अवस्था है। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता और न मोक्ष के लिये कहीं जाना होता है किन्तु पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा में से ही मोक्षदशा प्रगट होती है।

प्रश्न---जैनधर्म तो सबसे निराला-बेमेल मालूम होता है।

उत्तर---जैनधर्म स्वभाव के साथ बिल्कुल मेलवाला है। सत्यार्थ धर्मका किसी भी असत्यार्थ धर्म के साथ मेल नहीं हो सकता, इसलिये वह असत्य से बिल्कुल बेमेल है। मेल बिठाने के लिये विष और अमृतको एकसा नहीं माना जाता।

जो ब्रह्मचारी होता है वह वेश्यालय मे नहीं जाता उसी प्रकार जैनधर्मकी अन्य धर्म के साथ तुलना नहीं होती। मोक्षदशा में एक आत्मा दूसरे आत्मा मे मिल नही जाता: किन्तु पूर्ण पवित्रता प्रगट करके वह भगवान अनंतकाल तक अपने स्वरूपकी शांति और अनंत सुखका भोग करता है। जगत का दु:ख देखकर भगवान अवतार नहीं लेते, भगवान तो वीतराग हैं। निवृत्ति लेकर सत्समागम के द्वारा सत्का निर्णय करना चाहिये। इस तत्त्व निर्णय के लिये प्रयोजनभूत रकम कौन कौनसी हैं? वह यहां कहा जाता है।

(२४–२५) जीव-अजीव—जीव किसे कहते हैं? और अजीव किसे कहते हैं? इन दोनो का लक्षणों के द्वारा यथार्थ निर्णय करना चाहिये। लोग कहते हैं कि हाथी, चींटी, मनुष्य इत्यादि जीव हैं किन्तु हाथी इत्यादि तो शरीर हैं और वह शरीर छूट जाता है। वास्तवमे देखा जाय तो शरीर मे रहने वाला जो ज्ञाता है वह जीव है। शरीर तो अजीव है। शरीर कहीं जीव के साथ नहीं आता क्योकि वह जीव से भिन्न वस्तु है—अजीव है। और आत्मा असंयोगी ज्ञान आनंद की मूर्ति है।

(२६) आस्रव—जो पुण्य पाप के विकारी भाव हैं वे दोनों आस्रव भाव हैं। व्रत, तप का विकल्प भी आस्रव है। आत्मभान के विना व्रत, तप या त्याग सत्य नहीं हो सकते। बाह्य लौकिक नीति, सत्य बोलना इत्यादि तथा धर्मका बाना धारण करके जो शुभभाव की क्रिया है वह भी जैनधर्म नहीं है, वह आस्रव है, विकार है, बंधन है। जैनधर्म आत्मा का वीतराग स्वरूप है, इसका भान किये विना भक्ति, व्रत, पूजा

इत्यादि शुभ भाव करने से पुण्य का बंध होता है, वह आस्रव है, उसमे धर्म नहीं है ।

(२७) बंध—पुण्य और पाप दोनो बंधन है, पाप को छोड़ने के लिये पुण्य करना ठीक है, किन्तु धर्म पुण्य से अलग वस्तु है । जिस भाव मे बंध होता है उसभाव से आत्मा का अबंध स्वभावरूप धर्म नहीं होता ।

(२८-२९) संवर-निर्जरा—आत्मा के किसभाव से नया आस्रव-बंध रुकता है ? और किसभाव से पूर्व के पुण्य पाप का आंशिक अभाव होता है ? इसका बराबर निर्णय करना चाहिये । आत्मभान के बिना यथार्थ संवर-निर्जरा नहीं हो सकती । लोग मानते है कि खाना पीना छोड़दिया इसलिये तप हो गया और निर्जरा हो गई, और उपवास करके शरीर को सुखा लिया इसलिये अंदर धर्म हुआ होगा । इसप्रकार शरीर की दशासे धर्म को नापते हैं, किन्तु उन्हे अभी यही खबर नहीं है कि धर्म क्या वस्तु है ? और वह कहा है ? धर्मस्वरूप आत्मा की पहिचान हुये बिना धर्म कहा से होगा ? और उसके बिना संवर निर्जरा नहीं हो सकती । आत्मभान के बिना कर्मो की तो नहीं, किन्तु काल की निर्जरा होती है अर्थात उसका समय व्यर्थ जाता है ।

वीतराग मार्ग मे आवश्यक रकमो का ठीक निर्णय न करके धर्म के नाम पर बाह्य प्रवृत्तियो मे लगे रहने से भव नहीं घटता, धर्म नहीं होता ।

(३०) मोक्ष—पहले तेवीसवीं रकम मे मोक्षकी बात कही गई थी, किन्तु वह संसार और मोक्ष इन दो अवस्थाओंकी

बात थी। यहां पर सात तत्त्वों में से मोक्ष तत्त्वकी बात है।

(३१–३६) जीव–पुद्गल–धर्म–अधर्म–आकाश–काल— यह छह द्रव्य जगतकी त्रैकालिक वस्तुऐं हैं। जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है। सर्वज्ञ वीतरागदेव के सिवाय दूसरों के मत में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य के यथार्थ स्वरूप का कथन नहीं है। लौकिक रीति से निर्णय कर लेना यथार्थ निर्णय नहीं है। आकाश सर्व व्यापक वस्तु है और कालद्रव्य के असंख्यात अणु हैं, जो लोकाकाश मे व्याप्त होकर रहते हैं।

(३७) वस्तु—वस्तु किसे कहते है? वस्तु त्रैकालिक है, उसका कभी नाश नहीं होता। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र होती है, कोई द्रव्य पराधीन नहीं होता।

(३८–४०) द्रव्य–गुण–पर्याय—द्रव्य अर्थात् गुणोका समुदाय। प्रत्येक द्रव्य के गुण प्रथक् प्रथक् हैं। जो वस्तु के सर्व भाग मे और उसकी त्रैकालिक सर्व अवस्थाओं मे रहता है वह गुण है। प्रत्येक वस्तु मे अनंतगुण है और उन गुणों की प्रति समय अवस्था बदलती रहती है—गुणोंका परिणमन हुआ करता है उसे पर्याय कहते हैं।

ऐसी चर्चा पहले कभी कहीं सुनी नहीं होगी, वस्तुका ज्ञान किये बिना, धर्म करनेको निकल पडे किन्तु यह भान ही नहीं है कि धर्म कहां होना है? बहिरंग मे आत्माको धन से किंचित् मात्र भी लाभ नहीं है। यहां तो आत्मा के अंतरंग धनकी बात हो रही है। पैसे से न तो लाभ होता है और न हानि। किन्तु उसके प्रति जो ममता है वही हानि करती है।

प्रश्न—जब कि पैसा हानि नही करता तब पैसा रख छोड़ने में क्या हानि है?

उत्तर—पैसा हानि नहीं करता यह ठीक है। किन्तु हमने यह कब कहा है कि पैसे के प्रति ममता करनी चाहिये तथा पैसे को रख छोड़ने का भाव करना चाहिये तथा उसके प्रति जो तृष्णा है उसे कम न करना चाहिये। तू अपने भाव मे पैसे की ममता को कम क्यों नहीं करता। माना कि धन के प्रमाण में मोह नहीं है किन्तु उसके प्रति जो तृष्णा है उसके प्रमाण में मोह और बंधन है। किसी के धन तो थोड़ा होता है और ममता अधिक होती है और किसी के धन अधिक होता है और ममता थोड़ी।

द्रव्य क्या है और पर्याय क्या है? सिद्ध भगवान द्रव्य नहीं किन्तु आत्मा की निर्मल पर्याय है। राग जीव की अवस्था है अथवा जड़की। कौनसी अवस्था किस द्रव्य की है? यह सब जो जिस प्रकार हैं उसे उसी प्रकार जानना चाहिये।

(४१) द्रव्यपर्याय—वस्तु के आकार के क्षेत्रांश को द्रव्यपर्याय कहते है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने ही क्षेत्रमे रह रहा है। आत्मा असंख्य प्रदेशी है वह उसका स्वक्षेत्र है। यह बात गलत है कि 'एक ही आत्मा है और वह सर्व व्यापी है।' जीव अनंत है और वे सब तीनों काल मे प्रथक् ही है प्रत्येक द्रव्यपर्याय प्रथक् प्रथक् हैं।

प्रश्न—हाथी के शरीर मे रहनेवाला जीव चींटी के शरीर मे कैसे समा सकता है?

उत्तर—जब जीव हाथी के शरीर मे होता है तब उसके असख्यात प्रदेश समस्त शरीर मे व्याप्त हो जाते है और चींटी के शरीर मे सकुचित होजाते है। फिर भी आत्मा के प्रदेशो की सख्या मे किंचित्मात्र भी कमावेशी नहीं होती। चींटी का भी आत्मा असख्य प्रदेशी है और हाथी का आत्मा भी असंख्य प्रदेशी है और आत्मा के गुणों में भी कमावेशी नही होती। सिद्ध भगवान मे जितने गुण हैं वे सबगुण प्रत्येक आत्मा मे सदा भरे रहते है। अनादि से संसार मे रहने पर भी जीव का एक भी गुण कम नहीं होता। वस्तु स्वतत्र है, वह किसी के आधीन नहीं है यह बात अपूर्व है, इसको एकबार तो स्वीकार कर। यदि हां कहेगा तो सिद्ध होगा और ना कहेगा तो निगोद मे जायगा।

(४२) अर्थपर्याय—प्रदेशत्वगुण के सिवाय अन्य गुणों के परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं।

(४३) व्यंजनपर्याय—व्यजनपर्याय को द्रव्यपर्याय भी कहते है। जो वस्तु का आकार है सो व्यंजन पर्याय है, शरीर का आकार अलग है। आत्म प्रदेशों का जो आकार है सो आत्मा की व्यजन पर्याय है। आत्मा का आकार वर्तमान देह प्रमाण है, किन्तु शरीर का आकार भिन्न है और आत्मा का आकार भिन्न है। कोई किसी के लिये प्रेरणा या मदद नहीं करता, दोनों स्वतंत्र है। यह सब मूल रकमें कहलाती है। जो इन मूल रकमों के स्वरूप को नहीं जानता वह जैन नहीं है तब वह श्रावक या साधु कहा से हो सकता है।

प्रश्न—हम प्रति वर्ष तीर्थ यात्रा के लिये जाते है फिर भी श्रावक नहीं हैं?

उत्तर—पहाड़ के ऊपर चढ़ गये और मूर्ति के दर्शन कर लिये इससे कहीं धर्म नहीं हो जाता। मूर्ति मे या पहाड़ मे कहीं आत्मा का धर्म नही घुसा होता यह तो मात्र निमित्त हैं और सो भी वह निमित्त तब कहलाते है जब कि अपने अक्रिय वीतराग स्वरूपको स्वय जाने। किन्तु अपूर्णदशा मे जो राग रह जाता है उस राग का वह निमित्त है और वास्तव मे तो वह अपने पूर्ण परमात्म स्वरूपको याद किया करता है। अहो! 'यही परमात्मा है' इस प्रकार मूर्ति मे वीतरागकी स्थापना करता है, वहां इतना मूर्ति मे आरोप है और वह स्थापना निक्षेप कहलाता है। स्थापना अर्थात् स्थापन करना। जिसे तत्त्वज्ञान होता है उसे देव वगैरहकी पहिचान होती है और वह सच्ची भक्ति कर सकता है। किन्तु जिसे मूल स्वरूप का ही भान नहीं है वह किसकी स्थापना करेगा? जिसे अभी वीतराग भगवान द्वारा कहे गये तत्त्वो के नाम की भी खबर नहीं है वह मूल तत्त्वो का निर्णय कैसे करेगा?

(४४) असमानजाति—आत्मा और शरीर दोनों असमान है, भिन्न भिन्न वस्तुऍ हैं। उन दोनों के सयोग से मनुष्य वगैरह पर्याय कहना सो असमानजाति पर्याय है। शरीर और आत्मा असमानजाति है इसलिये आत्मा शरीर का कुछ नहीं कर सकता और शरीर से आत्मा का कुछ नहीं होता। आत्मा शरीर के आश्रय से धर्म नही कर सकता, क्योकि दोनों की जाति जुदी है। आत्मा अरूपी ज्ञाता स्वरूप वस्तु है, वह देहादिक रूपी जड़ वस्तु का कुछ भी नहीं कर सकता और न पर द्रव्य ही आत्माका कुछ कर सकते हैं।

(४५) विभावद्रव्य व्यंजनपर्याय—परद्रव्य के निमित्त से होने वाली विकारी आकारकी अवस्थाको विभावद्रव्य व्यंजन-पर्याय कहते हैं। यह पर्याय जीव और पुद्गलों में ही होती है।—

विभाव=विकारी, द्रव्य=वस्तु, व्यंजनपर्याय=प्रकट अवस्था। मनुष्य, नारकी और देव इत्यादि जीवकी विभावव्यंजन पर्याय हैं और स्कंध परमाणुकी विभावव्यजन पर्याय है।

यहां कोई कह सकता है कि एक घंटे में न जाने कितनी तरह की वाते कही जाती हैं। इनमे से किस किस को याद रखा जाय? उस के लिये कहते कि मूलवस्तु को समझाने के लिये सभी पहलुओं को लेकर वाते होती हैं, किन्तु जिसके जन्म मरण को दूर करने के लिये सत् की जिज्ञासा अतरग मे जागृत होगई है वह आकुलित नहीं होता। इन मूल तत्त्वों का निर्णय किये विना जन्म मरण को दूर करने का उपाय हाथ नही लग सकता।

(४६) स्वभाव व्यंजन पर्याय—पर निमित्त के संयोग के विना प्रदेशत्व गुणकी जो पर्याय होती है उसे स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। जीवकी सिद्ध पर्याय और एक प्रथक् परमाणु यह दोनों स्वभाव व्यंजन पर्याय हैं।

(४७) स्वभाव अर्थ पर्याय—अगुरुलघुगुण के परिणमन को स्वभाव पर्याय अथवा स्वभाव अर्थपर्याय कहते हैं। वह सूक्ष्म है। ससारी जीव अपने वहीखाते का हिसाव मिलाने के लिये रात्रिजागरण करके भी रोकडवाकी का मेल मिलाता है तो यह तो भगवान के वहीखाते का हिसाव मिलाना है इसे मंहगा मान लिया है इसलिये वह महगा पड़ता है किन्तु वास्तव में

मंहगा नहीं है यह तो अपने घरकी बात है, घर की बात महगी कैसे कही जा सकती है।

(४८) शुद्ध अर्थपर्याय—पर की उपाधि से रहित प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त गुणकी पर्यायको शुद्धअर्थपर्याय कहते हैं। केवलज्ञान शुद्धअर्थपर्याय है।

(४९) अशुद्धअर्थपर्याय—पर की उपाधि से जो अवस्था होती वह अशुद्धअर्थपर्याय है। राग-द्वेष पर की अपेक्षा से होता है इसलिये वह अशुद्ध अर्थपर्याय है।

(५०) सामान्यगुण—जो गुण छहो द्रव्यों मे होता है उसे सामान्य गुण कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। वे सब वस्तुओं मे होते हैं।

(५१) विशेषगुण—जो गुण समस्त द्रव्यों में नहीं होता उसे विशेष गुण कहते हैं। आत्मा के ज्ञान दर्शन इत्यादि गुण हैं, वे अन्य द्रव्यों में नहीं होते। इसलिये ज्ञान-दर्शन इत्यादि आत्मा के विशेष गुण हैं और वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श परमाणु के विशेष गुण हैं।

इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कही गई ५१ रकमों का जबतक यथार्थ निर्णय नहीं कर लेता तबतक उसके श्रावकत्व या मुनित्व वगैरह कुछ भी नही हो सकता, वह जैन भी नहीं है। यदि कोई यथार्थ तत्त्व का निर्णय न करे और अपनी कल्पना से या किसी अज्ञानी गुरु के कहने से तत्त्व के स्वरूप को चाहे जैसा मान बैठे तो अनादि काल से तत्त्व निर्णय में जो गड़०

चढ़ी है वह बनी रहेगी और यथार्थ तत्त्व निर्णय के बिना जन्म-मरण नहीं मिटेगा।

निश्चय और व्यवहाररूप दो प्रकार के कथनानुसार सर्वज्ञ भगवान के दो प्रकार के गुण होते हैं। निमित्त का ज्ञान करने के लिये और अशुभ भाव को छुड़ाने के लिये भगवान की वाणीमें भी पराश्रित व्यवहार का कथन आता है। व्यवहार का मतलब है निमित्त से कथन और निश्चय का अर्थ है निज से कथन। और फिर बाह्य और अभ्यंतर के भेद से भी सर्वज्ञ के दो प्रकार के गुण होते हैं। उनमें से जितने शरीराश्रित गुणों के द्वारा भगवान का परिचय कराया जाता है और उनकी स्तुति इत्यादि की जाती है वह सब बाह्य गुण हैं। अर्थात् वे केवल कथन मात्र हैं। निश्चय से आत्मा का एक भी गुण शरीराश्रित नहीं है, आत्मा के ज्ञान दर्शनादिक गुण स्वाश्रित ही हैं, वे अभ्यंतर गुण हैं। भगवान की पहिचान समोशरण से, सुंदर शरीर से या दिव्यध्वनि आदि से कराई जाती है, किन्तु वह सब शरीर, वाणी इत्यादिक वास्तव मे भगवान का स्वरूप नहीं है। 'घी का घड़ा' कहने मात्र के लिये—व्यवहार है। कहीं घड़ा घी का नहीं हुआ करता. इसी प्रकार व्यवहार से कहा जाता है कि यह भगवान का शरीर है, किन्तु वास्तव में भगवान के शरीर नहीं होता, भगवान तो आत्मा है।

भगवान के द्वारा कहे गये निश्चय व्यवहार का स्वरूप भिन्न भिन्न है और उसका फल भी अलग ही है। व्यवहार का फल संसार है और निश्चय का फल मोक्ष। भगवान के गुण के

दो प्रकार और है, एक अभ्युदय और दूसरा निश्रेयस। अभ्यु-दय का अर्थ है पुण्य का ठाठ और निश्रेयस का अर्थ है मोक्ष। वास्तव मे भगवान के पुण्य है ही नही, वह तो पुण्य पाप रहित वीतराग है। वचन विवक्षा से अर्थात् वचनों के द्वारा कहे जाने योग्य संख्यात गुण आत्मा मे हैं और वस्तु स्वरूप की अपेक्षा से अनंतगुण हैं। किन्तु वचनो द्वारा अनंतगुण नहीं कहे जा सकते।

मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ निर्णयद्वारा जाने विना भवभ्रमण का अंत नहीं हो सकता। इसमे बाहर का कुछ करने की बात नही है, किन्तु अंतरंग मे सच्ची समझ प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। पहले बिना समझ के क्या करेगा। घर से बाहर निकलने के लिये किस दिशा की ओर चलना चाहिये, इसकी खबर अंधे आदमी को नहीं होती और दिशा को जाने बिना यदि वह यों ही चलदे तो सिर दीवाल के साथ टक्कर खायेगा। किन्तु यदि उसे कोई दिशा बतलादे और वह उसके ध्यान मे बैठ जाय कि ठीक नाक की सीध में सामने दरवाजा है तो यह जानकर फौरन उसके पैर गति करने लगे और उसकी सारी समस्या हल हो जाय। इसी प्रकार इस संसार से बाहर कैसे निकला जाय? आत्मा क्या है? उसका भ्रम कहा होता है, कैसे होता है? इत्यादि का यथार्थ निर्णय किये विना पुरुषार्थ की गति कहां की जाय यही समस्या उसके मनमे बनी रहती है और संशय रहा करता है। किन्तु यदि वह सच्चे स्वरूप को जान ले तो उसकी ओर पुरुषार्थ की गति हो और संशय दूर हो जाय, इसलिये सबसे पहले सच्ची समझ प्राप्त करनी चाहिये।

इस जीवने अनादि काल से शरीर के प्रपंचको अपना जान रखा है और यह जाननेवाला स्वयं अपने को न जानकर परमे अपनापन मान बैठा है। इसने अनादि काल से अपनी ओर लक्ष्य नहीं किया इसलिये परमे, देहादि मे, देहकी क्रिया मे और पुण्यपाप मे अपना अस्तित्व मान रहा है। किन्तु शरीरादि से भिन्न असग मे जो अपना चैतन्य स्वरूप है, वह इसे दिखाई नहीं देता। इसलिये वाह्य में लक्ष्य करके उसमे सुख दुःख की कल्पना कर रहा है और परसे लाभहानि मान रहा है, इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे संसारमे भ्रमण करता हुआ मिथ्याबुद्धि से पर्याय के प्रपंच को सत्यरूप जानकर उसमे मग्न हुआ प्रवृत्ति कर रहा है। लोगो मे सन्मान मिलता है तो वह सबको रुचता है, सेठजी धर्म के नाम पर मंदिर मे (धर्मस्थानमे) जाते है और वहां सबसे आगे विठाये जाते हैं। उस सभाने महाराज सेठजी की और सेठजी महाराज की प्रशसा करते है। दोनों 'परस्पर प्रशसन्ति' करके वडप्पन को पुष्ट करते है और उसमे धर्म मानकर सतुष्ठ होते है। इस प्रकार परस्पर की प्रशसा की स्पर्धा मे लगजाते हैं। यह सब उपाय करने पर भी दुःख तो ज्यों का त्यों बना रहता है। विपरीत उपाय से दुःख दूर नहीं हुआ करता। दुःख का मूल कारण है अज्ञानजनित इच्छारूपी रोग, और वह अनादिकाल से लगा हुआ है। जीव यह नहीं जानता कि इच्छारूपी रोग क्या है? और वह कैसे मिट सकता है? किन्तु वह प्रकारांतर से ऐसा उपाय किया करता है जिससे इच्छारूपी रोग निरंतर बढ़ता रहता है।

जैसे किसीको मृगी का रोग है किन्तु वह कभी तो अधिक बढ़ जाता है और कभी कम प्रगट होता है लेकिन वह रोग अंतर में तो बना ही रहता है, निरोग नहीं होता। रोगीको निरंतर भय बना रहता है। पुण्य का उदय आने पर और अपने उपाय को गलत समझ लेने पर यदि वह सच्चे उपाय का निश्चय करने की इच्छा करे और उस रोग के विशेषज्ञ वैद्य के पास पहुंचे तथा उस पर विश्वास करे कि यही सच्चा वैद्य है, मेरा रोग मिटा देगा और फिर उस वैद्य के कथनानुसार उपचार करे तो रोग मिट जायगा। इसी प्रकार आत्मा के साथ रागद्वेष और अज्ञानरूपी महारोग अपनी भूल के कारण अनादिकाल से लगा हुआ है। यदि यह अभिलाषा जागृत होजाय कि जन्म मरण रूपी रोग का मूल कारण अज्ञान है वह कैसे मिटे? और वह यह जान ले कि अकृपाय, करुणा के भंडार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान परम वैद्य हैं तथा उनके द्वारा कहे गये तत्त्वोंका निर्णय करे और फिर उनके कहे हुये उपाय को करे तो रोग दूर होजाय, दुःख टले और सुखी होजाय। इसका क्या उपाय है? यह आगे कहा जायगा।

•

卐

इच्छा ही रोग है, जिसे कोई दुःख होता है, उस दुःख से छूटने के लिये उसके इच्छा होती है। इसलिये जो इच्छा करता है वह दुःखी है। इच्छा नाम का रोग अनादिकाल से जीव के साथ लगा हुआ है। आत्मा के जो परवस्तु की इच्छा है सो रोग है। जैसे किसी के मृगी का रोग हो और वह बहुत समय से गलत उपचार कर करके थक गया हो किन्तु जब वह उस उपाय को गलत जानले तब सच्चा उपाय करता है।

प्रश्न—हमारे उपाय तो सत्य ही है हम धन प्राप्त करने का उपाय करते हैं और धन मिलता है तो फिर हमारे उपाय गलत कैसे कहलायेंगे ?

उत्तर—इच्छा के दुःख को दूर करने के लिये यह उपाय बिल्कुल गलत है। धन मिला कि दूसरी इच्छा आकर खड़ी हो गई। रुपया मिला, बड़प्पन मिला और स्त्री पुत्र मिले, किन्तु जहा मरण का समय आया वहा जीवन की इच्छा का दुःख होता है लेकिन जब आयु ही पूर्ण होगई तब वहां धन इत्यादिक कोई भी सहायक नहीं हो सकता और यहजीव अपनी पहचान के विना मरकर चींटी, कौआ, इत्यादि में जन्म लेता है। इसमें कौनसा उपाय सच्चा है ? परवस्तु की इच्छा ही रोग है। अपने सुख के लिये परवस्तु की इच्छा की, इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को शक्तिहीन—सुखहीन मान लिया। उसे यह भान नहीं है कि सुख आत्मा में ही है, इस-

लिये आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु को ग्रहण करने का भावरूपी इच्छा का रोग अनादिकाल से लगा हुआ है। अनंत उपाय करने पर भी वह रोग अभीतक नहीं मिटा और इच्छा का दुःख तो हो ही रहा है इससे सिद्ध हुआ कि वह उपाय ही गलत है।

कपवायु का रोगी यह जान ले कि पूर्वकृत सभी उपाय गलत हैं। मेरा शरीर वायु के रोग से कांप रहा है और यह भी जानले कि वायु रोग का अच्छा वैद्य कौन है? जो नाड़ी विशेषज्ञ हो और रोगी की शक्ल देखकर रोग के स्वरूप को समझ ले, और फिर उस वैद्य के पास पहुंचकर उसकी औषधि ले तो वह अच्छा हो जाय। कोई कोई वैद्य अच्छे विशेषज्ञ होते हैं। एक वैद्य ऐसे निपुण थे कि उनने एक महिला को जो पानीका घड़ा सिर पर रखे हुये चली आ रही थी उसकी मूरतको देखकर ही उनने जान लिया था कि इस महिला को अमुक रोग है, जिससे वह घर नहीं पहुंच पायेगी और अभी ही मर जायगी। इसलिये उनने अपने साथी से कहा कि इस के सिर पर से घड़ा उतार लो। साथी घड़ा उतारने के लिये आगे बढ़ा ही था कि वह महिला अकस्मात् धरती पर गिर पड़ी और वहीं मर गई। जिसे इस प्रकार स्वाश्रयी–संपूर्ण रीत्या ज्ञान हो और जो यह भली भांति जानता हो कि रोग क्या है? निरोग क्या है? औषधि क्या है? और पथ्य क्या है? वही सच्चा वैद्य है।

यहां पर उक्त दृष्टांत में भी ऐसे वैद्य को ग्रहण नहीं किया है, जो रोगी के आने पर पुस्तक में रोग का नाम देखकर

उसके रोगको जानने बैठे, किन्तु यहां स्वाश्रित जानकार वैद्य से मतलब है। साथ ही यहांपर उस रोगी को लिया है जिसे अपना रोग मालूम होगया हो और अपने किये गये उपायों को जो गलत मान रहा हो तथा जिसे वैद्य के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई हो और जिस का रोग दूर होगया है उसके चहरे को देखकर जिसे उत्साह उत्पन्न हो गया हो कि जैसे इसका रोग दूर हो गया है उसी प्रकार मेरा भी रोग दूर हो जायगा और जिसे यह भी निश्चय हो गया हो कि इस वैद्य को भी पहले मेरा जैसा ही वायु का रोग था जिसे मिटाकर वैद्य हुआ है इसलिये इसके बताये गये उपाय से मेरा भी रोग दूर हो जायगा। जो इस प्रकारकी श्रद्धा से वैद्य के पास जाता है उसका रोग अवश्य दूर होता है। बिना वैद्य के रोग दूर नहीं होगा।

आत्मा अखंड, अकंप स्थिर स्वरूप है, उस अकंप स्वरूप को भूलकर पर वस्तु की इच्छारूपी कंपवायु हो जाती है इस आत्मा को वह वायुरोग अनादिकाल से लगा हुआ है, उस रोग को दुर करनेवाला वैद्य अर्थात् सच्चागुरु कौन है? यह उसके लक्षणो से ठीक ठीक जान लेना चाहिये। क्योंकि अजान वैद्य यम के समान कहा गया है। इसलिये जबतक सच्चेवैद्य का (यहांपर वैद्य के स्थानपर सद्गुरु समझना चाहिये) सुयोग न मिले तबतक यही अच्छा है कि औषधि ही न ली जाय। क्यों कि कुवैद्य की औषधि लेने से उल्टा दुःख बढ़ जाता है। सच्ची औषधि न मिले, इसलिये कहीं विष नहीं ले लिया जाता। सच्चा उपाय न मिले, इसलिये विपरीत उपाय नहीं किया जाता।

इस जीव को जिसका लक्षण आकुलता है ऐसा अज्ञानजनित इच्छा नाम का रोग अनादिकाल से सदा बना हुआ है। हां, कभी कभी आकुलता कम हो जाती है तो कभी कभी बढ़ जाती है किन्तु अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग सदा एक सा बना रहता है।

यदि किसी भव्य योग्य जीव को ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से और पुरुषार्थ करने के लिये उद्यत होने से यह ज्ञात हो जाय कि "इन पर विषयों के सेवन से मुझे शांति नहीं मिली और पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख का अनुभव नहीं हुआ।" तथा वह यह भी जान ले कि मेरे अभी तक के उपाय असत्य थे तब वह सच्चे उपायोंका निश्चय करके यह निर्णय करता है कि मुझे जैसे भी बने वैसे इच्छा नाम के रोगको मिटाने के लिये सत्य धर्मका साधन करना चाहिये।

मुझे परसे लाभ होगा यों मानकर जो पर द्रव्यकी इच्छा करता है वह अज्ञानजनित इच्छा है उस इच्छा रूपी रोगको मिटाने का उपाय सत्य धर्म है। और वह उपाय उनके द्वारा जाना जा सकता है जिनके पहले इच्छा रूपी रोग था और फिर जिनने आत्माकी पहिचान करके तथा सत्य धर्मका साधन करके उस इच्छा रूपी रोगका सर्वथा नाश किया हो। जितने भी सिद्ध, केवली-अरहंत हुये हैं उन सबको भी पहले यह रोग था। अज्ञान दशामें वे भी निगोद मे पड़े रहते थे, किन्तु बाद मे सच्चे स्वरूपका भान करके और सत् धर्मका साधन करके वीतराग होगये, इच्छा रहित होगये। वे सर्वज्ञ भगवान ही सच्चे वैद्य हैं।

राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान और वीतराग दशारूप निरोगता, इन सबका प्रारंभ से अंततक संपूर्ण ज्ञान सर्वज्ञ को ही होता है और वे ही दूसरों को यह सब बतलाते हैं, इसलिये सर्वज्ञ भगवान ही परम वैद्य हैं।

卐

इस सत्ता स्वरूप ग्रथमे मुख्यतया ग्रहीतमिथ्यात्व के त्याग का उपदेश दिया गया है। ग्रहीतमिथ्यात्व का अर्थ विपरीत मान्यता का ग्रहण करना है। जन्म होने के बाद जो विपरीत नई बात ग्रहण करली गई है उसे छुड़ाने की बात मुख्यतया सत्तास्वरूप मे कही गई है। अनादिकाल से जो विपरीत-बात ग्रहण की गई है उसे (अग्रहीतमिथ्यात्वको) छुड़ाने का उपदेश समयसार मे किया गया है। यह जीव जबतक स्थूल मिथ्यात्व को छोड़ने की बात नहीं समझ सकता तबतक सूक्ष्म मिथ्यात्व छोड़ने की बात भी उसके समझ मे नहीं आ सकती। स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर जो प्रेम है यदि उससे अधिक प्रेम वीतराग देव गुरु धर्म पर न हो तो समझना चाहिये कि उसके स्थूल ग्रहीतमिथ्यात्व का भी त्याग नहीं है।

जबतक सच्चे देव–गुरु और धर्मके प्रति भक्ति एव तन, मन, धनको लगाने का उल्लास नहीं होता तथा, पूर्वदशा मे माने गये कुदेवादि के लिये जितना तन, मन, धन व्यय करता था, उससे अधिक भक्ति तथा तन, मन, धन, अपने सच्चे देव, गुरु और धर्म के लिये व्यय नहीं करता तबतक समझना चाहिये कि उसके स्थूल मिथ्यात्व का त्याग नहीं है। स्थूल मिथ्यात्व के त्याग के बिना सूक्ष्म मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता। इस जीवने पहले अनतवार स्थूल मिथ्यात्व का त्याग किया है, किन्तु सूक्ष्म मिथ्यात्व

का त्याग आजतक कभी नहीं किया। जिसके स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर देव, गुरु, शास्त्र से भी अधिक प्रेम हो, समझना चाहिये कि वह तीव्र मिथ्यात्व के महारोग में सड़ रहा है। यदि कोई कहे कि हमें देव गुरु के प्रति प्रेम तो है किन्तु उधर कुछ उत्साह नहीं होता, सो समझना चाहिये कि उसकी यह बात झूठ है। अरे भाई! तुझे अपनी स्त्री और बच्चों के प्रति उत्साह होता है, उनके लिये तन, मन, धन खर्च करता है और उनके लिये अलग रुपया निकाल कर रखता है, किन्तु यहां तुझे देव गुरु के प्रति उत्साह नहीं होता, तब क्या इसका यह स्पष्ट अर्थ नहीं है कि तुझे देव, गुरु के प्रति प्रेम नहीं है? यदि कोई देव, गुरु की अपेक्षा स्त्री आदि के लिये अधिक उत्साह से तन, मन, धन खर्च करे तो समझना चाहिये कि वह वीतराग को ठगता है, जिसका अर्थ यह है कि वह स्वय अपनी आत्मा को ही ठगता है। अपने को वीतराग का सेवक कहलवाता है किन्तु अभी वीतराग देव के प्रति रुचि नहीं है, तब उसे अपनी आत्मा की रुचि हो ही कहां से सकती है, जब कि उसे निमित्त का भी विवेक करना नहीं आता तो वह उपादान को कैसे पहचानेगा? जबतक सच्चे देव और सच्चे गुरु के प्रति उल्लास उत्पन्न नहीं होता तबतक अ तर ग में ग्रहीत-मिथ्यात्व का तीव्र पाप बना ही रहता है।

जिसने अनुमानादि के द्वारा भी अपने ज्ञानमें सर्वज्ञ का निर्णय नहीं किया हो और वह प्रति दिन भगवान के दर्शन करने को जाता हो तो भी वह वीतराग का सेवक नहीं है। वीतराग का सेवक कब बन सकता है? भगवान का दास

कब हो सकता है? भगवान के उपदेश का मार्ग कब ग्रहण कर सकता हैं? और भगवान के द्वारा कहे गये तत्त्वों का श्रद्धान कब कर सकता है? तब, जब कि यह जानले कि भगवानने शास्त्रमें क्या कहा है? और अनुमानादि से सर्वज्ञ के स्वरूप का सच्चा निश्चय होगया हो, तीनलोक और तीन-काल बदल जाय किन्तु उसका निर्णय न बदले ऐसी दृढ श्रद्धा होगई हो, और फिर इसके बाद ही वह तत्त्व की श्रद्धा कर सकता है। ग्रंथकार कहते है कि जिसके तत्त्व स्वरूपका निर्णय नहीं है वह वीतराग का सच्चा सेवक नहीं है-जैन नहीं है। जिसे सर्वज्ञ के सच्चे स्वरूप का निर्णय नहीं हुआ है तथा विशेप साधन का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है, वह विना निर्णय के किसका सेवक बनकर दर्शन करता है या जप करता है। अर्थात् जिसे सर्वज्ञ के स्वरूपका निर्णय नहीं है वह वीतरागका सेवक नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्माने जो तत्त्व कहा है उसकी जिसे पहचान नहीं है और जिसे ज्ञान मे निर्णय नहीं हुआ हैं और जो कहता है कि न जाने सर्वज्ञ कैसे होते होंगे? हमे जब केवलज्ञान होगा तब सर्वज्ञ का निर्णय कर लेगे, तो समझना चाहिये कि यों कहने वाले के सर्वज्ञ की श्रद्धा ही नहीं है, उसे तत्त्व का निर्णय ही नहीं हुआ-वह जैन नहीं हैं, वह सर्वज्ञको ही नही पहचानता।

सर्वज्ञदेवने विशेष साधन का अर्थात् सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताया है। जन्म-मरण को दूर करने का उपाय बताया है, जिसे सुनकर यह धारणा बन जाती है कि अहो! सर्वज्ञदेव के सिवाय इस स्वरूप को दूसरा कोई नहीं

कह सकता। अर्हंतभगवान का स्वरूप ऐसा ही होता है, ऐसे सर्वज्ञदेव का निर्णय किये विना किस के दर्शन करता है।

अनंत सर्वज्ञ धर्म का एक ही मार्ग कहते हैं, धर्म का दूसरा मार्ग हो ही नहीं सकता। सर्वज्ञ देवने आत्मा का परमार्थ अर्थात् स्वरूप की शांति उसका सच्चा मार्ग तीनों काल मे एक ही प्रकार का बताया है, ऐसे सर्वज्ञ का निर्णय किये विना किसका सेवक बन गया और किसका जप करता है? जिसका तू दर्शन करता है और जप करता है उन अरहंतदेव को तू जानता ही नहीं है तो फिर तू किसकी भक्ति करता है?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि हमारे बाप-दादा जो मानते आ रहे हैं वह हम भी मानते हैं तथा हमारे गुरु जो कहते हैं हम वही मानते हैं और हमारी जाति के अग्रगण्य पुरुष तथा संघ इन्हीं देव को मानता है इसलिये हम भी मानते है और हम सर्वज्ञ की पूजा इत्यादि धर्म बुद्धि से करते हैं तथा अरहंतदेव को ही देव मानकर उनकी पूजा और जप करते हैं। पांच-पांचसो और हजार-हजार वर्ष से हमारे बाप-दादाओं से जो प्रथा चली आ रही है उसीके अनुसार हम भी चलते हैं और इसी मार्ग से हमे भी मोक्ष जाना है। इस प्रकार कुछ लोग अपने समुदाय या संघ के आश्रय से अथवा मूढमति से यों मानबैठे हैं और वे देव का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते। वे मात्र नामधारी जैन हैं-अज्ञानी हैं।

उनके लिये शास्त्रकार कहते हैं कि सुनो, अरहंतदेव तो सच्चे हैं ही, किन्तु जबतक तुम्हारे ज्ञानसे उनकी सच्चता

प्रतिभासित नहीं हो जाती तब तक तुम उनके सच्चे सेवक नहीं हो। सर्वज्ञ के स्वरूपका निर्णय किये विना कोई उनका सच्चा सेवक नहीं हो सकता। जैसे तुम अपने कुलधर्म के अनुसार अथवा पंचायत के नियमानुसार अपने देव को धर्म बुद्धि से मानते हो उसी प्रकार अन्य धर्मावलंवी भी अपने कुलादि के अनुसार माने गये देवको धर्मबुद्धि से पूजते हैं, तब तुम में और उनमें क्या अंतर रहा? कोई आदमी बकरे को काटकर उसका मांस किसी फकिरको खिलाकर उसमें 'सवाब' मानता है और वह बकरे के मरनेकी चिंता न करके फकीरको खिलाने में धर्म मानकर केवल धर्मबुद्धि से वैसा अकृत्य करता है उसी प्रकार तुम अपने देव के स्वरूपको नहीं जानते और न तुम्हें यही ज्ञान है कि उनमें यथार्थता किस प्रकार है? तो फिर तुममें और उसमें क्या अंतर रहा? भिल्लनी भी कहती है कि हमारी देवी के समान संसार मे अन्य कोई शक्ति नहीं है, ईश्वरको भी हमारी देवी की शरण लेनी पड़ी थी। इस प्रकार वह भिल्लनी भी अपनी मानी हुई देवीको सच्चा मानती है और तुम भी अपने माने हुये देवको सच्चा देव मानते हो, किन्तु उसके स्वरूपको नहीं जानते तब फिर बताओ कि तुममें और भिल्लनीमें क्या अंतर है?

यदि कोई यों कहे कि जो बापदादों से चला आरहा है उसे कैसे छोड़ें? तो उसके लिये कहते हैं कि अरे! तेरे बापदादा निर्धन थे तो फिर तू निर्धनता को बदलकर और धनवान होकर बापदादा में फर्क क्यों पैदा करता है? यहां यह क्यों नहीं कहता कि हमारे बाप दादा के पास इतना धन

था, इसलिये मै इससे अधिक न रखूंगा। तेरे बाप दादा जो धर्म मानते थे उनसे भी यदि अच्छा धर्म मिलता है और तू उसे नहीं मानता तब समझना चाहिये कि तुझे धर्म की रुचि ही नहीं है। समयसार की बात अलौकिक है किन्तु जो पहले देव-गुरु-धर्म के ही स्वरूप को नहीं समझता उसके स्थूल मिथ्यात्व का भी त्याग नहीं है और यदि जीव मात्र देव, गुरु की बात मे ही रुक जाय तो भी उसे आंतरिक स्वरूप समझमें नहीं आ सकता। यहां पूर्वकथित और अभी की बात का मेल करके एकावतारी होने की बात कही गई है। जैसे दूसरे लोग बिना समझे ही कार्य किया करते है उसी प्रकार यदि तू भी किया करे तो तुझमे और दूसरो मे कोई फर्क ही नहीं कहलाया। सच्चे देव-गुरु के पहचाने बिना तुझमे तथा अन्य धर्मी में कोई फर्क ही नहीं रहा।

यहां कोई अज्ञानी तर्क करता है कि-हम सच्चे जिनेन्द्र अरहंतदेवकी सेवा पूजा करते है, हमारे देवको केवलज्ञान है, हम उसकी भक्ति करते हैं। हम सच्चे देवको ही मानते हैं और अन्य धर्मावलम्बी मिथ्या देवको मानते है, उनकी पूजादि करते हैं। इस प्रकार उनमे और हममे इतना फर्क तो है ही। उसके उत्तर में कहते है कि जैसे दूसरे लोग अपने देव को समझे बिना मानते है उसी प्रकार तू भी अपने देव के स्वरूपको समझे बिना मानता है। तू अपने देव के सच्चे होने पर भी उन्हें पहचानता नहीं है इसलिये दोनों एक से ही है। उदाहरण के रूप में जैसे दो अज्ञानी बालकों में से एकको काच मिला और दूसरेको हीरा मिला (काच कुदेव के स्थान पर है

और हीरा सच्चे देव के स्थान पर है) दोनोंने श्रद्धापूर्वक अपने अपने वस्त्रकी गांठ मे उन्हे बांध लिया, किन्तु उन दो में से किसी को भी कांच और हीरा की पहचान नहीं है। यद्यपि जिसकी गाठमे हीरा है वह हीरा ही है और जिसकी गांठमे काच है वह कांच ही है, किन्तु दोनो में से किसी को यथार्थ ज्ञान ही नहीं है, इसलिये दोनों समान ही हैं। दोनो मे कोई अंतर नहीं है। उसी प्रकार तू जिनेन्द्रदेव को मानता है किन्तु तुझे उनके स्वरूप की खबर नहीं है तो तुझमें और दूसरे मे कोई फर्क नहीं है। दूसरे अज्ञानियो को कुदेव मिला है और तुझे सच्चादेव मिला है किन्तु सच्चेदेव की तुझे परीक्षा नहीं है इसलिये तू और दूसरे सब समान ही हैं। अज्ञानी पक्ष की ओर से कहा जाता है कि हमे एकदम इस प्रकार क्यों उड़ा रहे हो, हम अनेक वर्ष से बराबर परिश्रम करते चले आ रहे हैं, हमारा कुछ भी तो ध्यान रखना चाहिये। उसके समाधान मे कहते है कि भाई! तूने क्या किया है? तूने एक हदमे रहकर सच्चे देव को माना किन्तु सच्चेदेव के स्वरूप की पहिचान नहीं की, उसी प्रकार दूसरे भी सच्चेदेव के स्वरूप को नहीं जानते, जबतक सच्चेदेव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान लोगे तबतक तुझमे और अन्य लोगों में कोई अंतर नहीं होगा।

अज्ञानी कहता है:-दूसरे धर्मावलम्बी कुदेव को मानते हैं इसलिये उनके गृहीतमिथ्यात्व हैं और हम सच्चेदेव को मानते हैं उनका दर्शन, पूजन, भक्ति इत्यादि किये विना कभी कुछ नहीं खाते पीते, इसलिये आपको यह तो कहना ही होगा कि

हमारा ग्रहीतमिथ्यात्व छूट गया है। कुदेवों के प्रति जो आकर्षण था वह छूट गया इसलिये हमारा अग्रहीतमिथ्यात्व भी छूट गया और हमे उतना लाभ प्राप्त होगया।

समाधान—तुम्हें अभी ग्रहीतमिथ्यात्व के स्वरूप की ही खबर नहीं है। सर्वज्ञ वीतरागदेव, निर्ग्रंथगुरु, तथा वीतराग-द्वारा कहे गये शास्त्र एवं धर्म का स्वरूप जब बाह्य लक्षणोंद्वारा निश्चित किया जाय और उनकी यथार्थता प्रतिभासित होजाय तभी ग्रहीत मिथ्यात्व छूटता है। किन्तु बाह्य लक्षणों के द्वारा देव, गुरु, धर्म को पहिचाने बिना यदि कोई सच्चे देव को माने और दूसरे को न माने तो भी उसके ग्रहीतमिथ्यात्व नहीं छूट जाता और फिर यह तो अभी ग्रहीतमिथ्यात्व के छोड़ने की बात है, अग्रहीतमिथ्यात्व के छोडने की बात तो ग्रहीत मिथ्यात्व के छोड़ने के बाद आती है।

आत्मा परिपूर्ण, निर्मल ज्ञान स्वरूप है, राग का एक अंश भी मेरे स्वरूप मे सहायक नहीं है, पुण्य करते करते धर्म नहीं होता, मै शरीरादिक का कुछ भी नहीं कर सकता, इस प्रकार यदि स्वतंत्र आत्मतत्त्व की प्रतीति हो जाय तो वह अनंत संसार के परिभ्र-मण को नष्ट कर देने वाली होती है। अर्थात् वह मुक्ति का कारण होती है, किन्तु वह प्रतीति कब होती है जब कि पहले जन्म के बाद देव गुरु शास्त्र संबंधी ग्रहण की गई विपरीत मान्यता को छोड़दे। उसके बाद ही अनादिकालसे चली आई विपरीत मान्यता छूट सकती है। प्रथम ग्रहीतमिथ्यात्व के छूटे बिना किसी का भी अग्रहीतमिथ्यात्व नहीं छूट सकता।

अरे रे ! यह मनुष्य देह और उसमें भी सर्वज्ञ का सम्प्रदाय तथा सर्वज्ञ का यह मार्ग मिला, फिर भी अभी तक तू सच्चे देव के स्वरूप को नहीं पहिचान सका। तुझे अब उद्धार का इससे अधिक अच्छा अवसर कहां मिलेगा? पुनः पुनः ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है।

卐

कोई कहता है कि हम अरहंत भगवानको देव के रूप में मानते हैं, कृपया यह बतलाइये कि अरहंत भगवानको देव के रूप मे स्वीकार करने का यथार्थ लक्षण क्या है ? इसके उत्तर मे कहते हैं कि अरहंतदेव का सच्चा सेवक होने के लिये सर्व प्रथम विपरीत आग्रह का त्याग और देव गुरु के प्रति सच्ची प्रीति–भक्ति होनी चाहिये। तब यथार्थ व्यवहार शुद्धि हुई कहलायेगी, यह बात सभी के लिये लागू होती है, उस मे भी धनवालों के लिये तो और अधिक लागू होती है।

प्रश्न—आपने ही तो बताया है कि आत्मा धनवान नही होता तब फिर धनवान के लिये विशेप लागू होनेकी बात क्यों कही ?

उत्तर—आत्मा धनवान नहीं है किन्तु धनकी ममता किसे होती है ? धन दौलतकी तीव्र ममता हो तो उसे कम करना चाहिये।

सच्चे वीतराग देव, उन के द्वारा कहे गये सच्चे अनेकान्त शास्त्र और निर्ग्रंथ गुरुको पहिचान कर उन के प्रति जब तक प्रीति उत्पन्न नहीं होती तबतक व्यवहारशुद्धि भी नहीं होती, उसके यथार्थ निमित्त भी नहीं है।

प्रश्न—अरहंत वीतराग परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो एक समय मे तीनकाल और तीनलोक को जानता है और जिसके परिपूर्ण शुद्धता प्रकाशित होगई है वह

वीतराग अरहंत देव हैं। यदि कोई ऐसे अरहंतदेवके स्वरूप को बाह्यलक्षणोंद्वारा जाने विना माने और कुदेवादि को न माने तो भी उसके बाह्यशुद्धि हुई नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिसे वह मानता है उस देव के स्वरूप को तो वह जानता ही नहीं है।

प्रश्न—यह कब कहा जायगा कि सच्चे देव की यथार्थ मान्यता हो गई है?

उत्तर—पहले गृहीत मिथ्यात्व दशामे जिस प्रकार अन्य कुदेवादि के लिये तन, मन, धन इत्यादि लगाये रहता था, यदि वीतराग देव शास्त्र गुरु के लिये उससे भी अधिक तन, मन, धन अर्पित करने का उल्लास जागृत नहीं होता तो समझना चाहिये कि वह 'ठग भगत' है। वास्तवमे यह वीतराग का भक्त नहीं है, उसका गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट पाया। अरहंतदेव की शरण के विना आत्मा को नहीं पहचाना जा सकता।

प्रश्न—जिसने शुद्ध आत्मस्वरूपका भान करके स्थिरता द्वारा चार घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञता प्राप्त करली है ऐसे अरहंत देवका भक्त कब कहा जा सकता है?

उत्तर—जब तक बाह्य लक्षणों से सच्चे देव को न पहिचाने और कुदेवादि की मान्यता छोड़कर सच्चे देव, गुरु के प्रति भक्ति और उल्लास न आये तब तक व्यवहार शुद्धि भी नहीं होती और वह व्यवहार से भी सच्चे देवका भक्त नहीं है-जैन नहीं है।

प्रश्न—आप बारम्बार कहते हैं कि कोई पर द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, मात्र निमित्त होता है, तब फिर यदि लड़के का पुण्य हो और हम उसके निमित्त हो तो इसमे ग्रहीतमिथ्यात्व कहां से आ गया ?

उत्तर—देव गुरु की अपेक्षा यदि स्त्री कुटुम्ब आदि के प्रति अधिक राग हो जाय तो उसके ग्रहीतमिथ्यात्व ही है। स्त्री कुटुम्ब के प्रति राग होता है तबकहना है कि मै निमित्त मात्र था तब फिर भगवान को भक्ति और शास्त्रप्रभावना आदि मे निमित्त क्यों नहीं हुआ ? देव शास्त्र गुरु की प्रभावना इत्यादि के कार्यो मे कजूसी करता है वहां उल्लास नहीं होता और लड़के की शादी के समय कंजूसी नहीं करता लडके के विवाह के समय जागरण करता है, चिल्लाते चिल्लाते गला बैठ जाता है। चाहे जो हो किन्तु उल्लास मे कमी नहीं आने देता, वह देव गुरु की पहिचान के विना दोनो (विवाह करने वाले और कराने वाले) नरक मे जायगे। और यह भी हो सकता है कि वे मरकर निगोद मे जायगे। अरहतदेव की सच्ची पहिचान और भक्ति के प्रगट हुये विना निगोदभव नहीं टल सकता। जब घरमें कोई बुड्ढा बुड्ढी मर जाते हैं तब जगत मे अपनी प्रतिष्ठा के खातिर कारज करता है—लोगों को भोजन कराता है, उसमे खूब धन खर्च करता है, और समधी समधिन को खुश करने के लिये लड़की और बहिन को अधिक से अधिक मिष्टान्नभेंट देता है। संसार में अपनी नाक रखने के लिये 'नक्कूखां' सब कुछ करता है किन्तु जब वीतराग भगवान की भक्ति, पूजा, प्रभावना इत्यादि की बात आती है तब कहता है

कि उसमे हिंसा होती है, पाप लगता है, लेकिन भाई! पुण्य पाप अंदर के शुभाशुभ भाव पर निर्भर होता है या बाह्य क्रिया पर? क्या अपने स्त्री पुत्रादि के प्रति राग करने मे तुझे पाप नहीं लगता? स्त्री पुत्रादि का पोषण करनेका भाव विषैले सर्प को—विषैले सर्प के बच्चे को पोषण करने के बराबर हैं, फिर भी तुझे उनमे उल्लास आता है। जो धर्मात्मा होते हैं वे देव, शास्त्र, गुरु की प्रभावना भक्ति इत्यादि कार्यो मे उल्लास के मारे कुदने लगते है कि अहो! मेरा अवतार धन्य होगया, मेरे अंतर मे त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान विराजित हैं, मै सर्वज्ञदेव का भक्त देव शास्त्र गुरु का दासानुदास हू। इस प्रकार अपने अंतरंग मे देव गुरु की स्थापना करता है और जब अपने आत्मदेव को अपने मे स्थापित कर लेता है तब जन्म-मरण का नाश होकर ही रहता है।

मिथ्यादृष्टि जीव के व्रत, तप हो ही नहीं सकता, किन्तु यदि वीतराग देव, गुरु, धर्म की पहिचान और उनके प्रति बहुमानका शुभराग न हो तो संसार संबंधी दया, दान, सेवा इत्यादि का शुभराग संध्या कालीन प्रकाश के समान है, वह शुभभाव अल्प कालमें ही अस्त हो जायगा और वीतरागदेव-गुरु-धर्म के प्रति जो शुभराग है वह प्रातःकालीन संध्या के समान है। उसके पीछे अर्थात् स्वभाव मे उस शुभराग को भी जब इनकार करता है तब शुद्धता का प्रकाश होता है। यहा लौकिक शुभराग की बात नहीं हैं किन्तु भगवान के ऊपर होने वाले शुभराग की बात है वह शुभराग भी मै नहीं हूं इस प्रकार का निर्णय हुये बिना जन्म-मरण का अंत नहीं होता।

किन्तु साथ ही पहले देव गुरु के प्रति शुभराग और भक्ति इत्यादि के हुये विना भी जन्म मरण दूर नहीं होता।

प्रथम भूमिकामें (ग्रहीतमिथ्यात्व के समय) जब कुदेव कुगुरु को मानता था और उनके लिये तन मन धन लगाये रहता था उस समय कजूसी नहीं करता था किन्तु अब सच्चे देव गुरुको पहिचान कर उनके लिये पहले से भी अधिक तन मन धन व्यय करता है तब उसके ग्रहीतमिथ्यात्वका अर्थात् व्यावहारिक स्थूल पापका त्याग होता है।

प्रश्न—आपने कहा कि 'पहले कुदेवादि के लिये जो खर्च करते थे उससे अधिक सुदेवादि के लिये खर्च करना चाहिये' किन्तु यदि हमने आज तक कुदेवादि के लिये कुछ भी नहीं किया हो और अब उसी प्रकार सुदेवादि के लिये भी कुछ न करें तो हमारे लिये ग्रहीत मिथ्यात्व नहीं कहलायेगा?

उत्तर—पहले तुमने खर्च नहीं किया था सो ठीक है किन्तु अब तुम्हें वीतरागदेव को मानता है या नहीं? यदि मानता है तो कुदेवादि को माननेवाले अन्य लोग कुदेवादि के लिये जितना खर्च करते हैं यदि तुम सुदेवादि के लिये उससे अधिक खर्च नहीं करोगे तो कहना होगा कि तुम्हारा ग्रहीतमिथ्यात्व नहीं छूटा है। यदि कोई अच्छा अन्य धर्मी होता है तो वह अपनी आमदनी का अमुकभाग अपने माने हुये देव इत्यादि के लिये अलग निकाल लेता है और तुझे अपने वीतरागदेव गुरु धर्म के लिये उल्लास नहीं होता और उनकेलिये तन मन धन अर्पित नहीं करता तब तो तू उनसे भी गया बीता है।

व्यवहार मे लड़के की शादी इत्यादि के कार्यों में धन खर्च करता है वहां तन मन वचन और समय सब लगाता है और यहांपर देव गुरु की भक्ति, प्रभावना इत्यादि के कार्यों मे 'शेखीखोर' केवल मुह से बातें करता है, फिर भी अपने को अरहंतदेव का भक्त कहलवाता है तथा स्वय अपने को वैसा मानता भी है। लेकिन भाई! अरहतदेव, गुरु, धर्म की सच्ची प्रीति तो तभी कहलायेगी जब सच्चे देव, गुरु, धर्म की भक्ति प्रभावना आदि के कार्यो में उनसे भी अधिक भक्ति और उल्लास के साथ कूद पड़े, जितनी कुदेवादि को माननेवाले भक्ति इत्यादि करते हैं। अन्यथा उसके ग्रहीतमिथ्यात्व का त्याग भी नहीं कहा जायगा।

जो लौकिक है और जिनमे निमित्त को लेकर भी देवत्व की योग्यता नहीं है, ऐसे बिल्कुल मिथ्यात्वी कुदेवादि को मानता था तथा उनमे तन, मन, धन, ज्ञान और श्रद्धा आदिक अर्पित करता था, एव अपने माने हुये उन कुदेवादि के लिये प्रथम दशा मे क्रोधादि कपाय भी करता था और वर्तमान में तेरे साथी (यहां मान्यता की अपेक्षा से समानता नहीं है किन्तु तन मन धन इत्यादि के सयोग की अपेक्षा से बराबरी है) अपने माने हुये कुदेवादि के लिये कषाय करते हैं तो अब मन के आंगन मे व्यवहारशुद्धि मे आकर तुझे जिनेश्वरदेवाधिदेव अरहतदेव, निर्ग्रंथगुरु और सम्यक् शास्त्रों की पहचान करके उनके लिये पहले से अधिक तन, मन, धन और ज्ञान इत्यादिक का खर्च करना चाहिये।

यहा पर यह बात कही गई कि पहले अरहत का भक्त कैसे हुआ जाता है, तथा बाह्य जैनी कैसे हुआ जाता है, यह

तो वीतराग का मार्ग है, इसमें दूसरी वात नही चल सकती, इसलिये जो वीतरागमार्ग से विरुद्ध है वह सब छोड दे तो वीतराग का मार्ग समझ मे आ सकेगा। अनेकबार कहा जाता है कि—

प्रभुनो मारग छे शूरानो नहि कायरनुं काम जो—ने
प्रथम पहेलां मस्तक मूकी वळतां लेवुं अरिहंतनुं नाम जो—ने
प्रभुनो मारग छे शूरानो.... .....

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वर अरहंतदेव का सेवक होने के लिये सारे संसार को छोड़ देना होता है अर्थात् जगत की परवाह छोड देनी होती है। समस्त संसार की प्रतिकूलता आजाय तो भी भगवान अरहंतदेव की श्रद्धा और भक्ति नहीं छूटती। अपने पुरुषार्थ से संसार की ओर का अशुभ भाव नष्ट करके सच्चेदेव और गुरु के प्रति भक्ति, पूजा और विनय इत्यादिक शुभभाव हुये विना ग्रहीतमिथ्यात्व भी दूर नहीं होता। भगवान के भक्त भगवान को विराजमान करते हुये कहते हैं कि—

आवो आवो सीमंधरनाथ अम घेर आवो रे,
रुड़ा भक्ति वत्सल भगवंत नाथ पधारो रे.
हुं कई विधि पूजुं नाथ कई विध वंदु रे,
मारे आंगणे विदेहीनाथ जोइ जोइ हरखुं रे.

(जिनेन्द्रस्तवन मंजरी पृष्ठ २५८)

वीतरागदेव—गुरु की भक्ति से उल्लसित वीतराग का सच्चा सेवक कहता है कि हे प्रभु! हे नाथ! आपकी पूजा

कैसे करूं। समस्त विश्व को भुलाकर इस शरीर के कमल बनाकर आपकी पूजा करू या किस प्रकार पूजूं। यहांपर अज्ञानता नहीं है किन्तु विनय है, भक्ति का उल्लास है। सर्व प्रथम वीतराग देव गुरु की भक्ति मे सर्वस्व समर्पणता होनी चाहिये, इसके विना वीतराग का भक्त नहीं कहा जा सकता। जो दु:खका स्मरण करता है वह भगवान का भक्त नहीं है। संसार मे दुःख कैसा ? अरहंत का भक्त कहीं दुःख देखता ही नहीं है, वह तो निकला सो निकला और अरहंतदेव का सेवक हो गया। वह अरहंत पद लेकर ही रहता है, जो अरहंत का भक्त हुआ वह अरहंत पद लिये विना नहीं रहता। वह अरहंत जैसा होकर ही संतोष मानता है, इसे कहते हैं अरहंत का भक्त, यह है वीतराग का सेवक और इसे कहते हैं जैन। श्री आनंदघनजी ने कहा है कि:—

हे जिनेश्वरदेव !
धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं
भंग म पड़शो हो प्रीत.. जिनेश्वर.
(उत्तरदायित्व के साथ कहता है कि—)
बीजो मन मंदिर आणुं नहि
ए अम कुलवट रीत। जिनेश्वर...धर्म...

हे नाथ तेरे गुणो की भक्ति करने के लिये उठा सो उठा, अब हमे विश्व में कोई नहीं रोक सकता, अब कोई विघ्न बाधा नहीं आ सकती। युद्धके लिये तैयार हुआ राजपूत छुपा नहीं रहता, वह अपनी एक मान के खातिर कितना पौरुष

दिखलाता है, तब फिर जिनकी इन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि पूजा करते हैं और जिनके जन्म के समय तीनलोक मे प्रकाश होजाता है ऐसे तीर्थंकर वीतराग प्रभु को साथ मे लेकर तथा उन्हें हृदय मे स्थापित करके उनका भक्त बने और फिर हे हैं करने लगे, यह कैसे हो सकता है ? यह तो वीतराग का शासन है, कहीं पोपाबाई का राज्य नहीं है। एक ओर तो भगवान का भक्त कहलाये और दूसरी ओर वीतरागदेव गुरु शास्त्र की प्रभावना आदि के लिये जब तन, मन, धन खर्च करने की बात आवे तब है हैं करने लगे तो वह वीतराग का भक्त नहीं है। जब शास्त्र की पेशगी कीमत देने की बात आती है तब कहता है कि जब शास्त्र आयेगा तब देखा जायगा; यों कहने वाला शास्त्र का भक्त नहीं है।

जो भगवान के पास चावल चढ़ाने मे पाप मानता है, किन्तु वास्तव मे किस अंतर भाव से चावल चढ़ाये जाते हैं यह वह नहीं जानता। पुण्य पाप बाह्य क्रिया में होता है या आंतरिक परिणामो पर आधार रखता है ? आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं उन्ही के अनुसार पुण्य पाप होता है।

अभी यह तो जानता नहीं है कि निश्चय क्या है और व्यवहार क्या है, और पहले व्यवहार शुद्धि के बिना मात्र निश्चयनय की बाते करता है, वह अरहंत का सेवक नहीं कहा जा सकता है। अरहंत का सेवक होने के लिये एकबार सर्वस्व छोड़ देना होता है। जहा व्यवहार शुद्धि का तो ठिकाना नहीं है और मात्र निश्चय की बाते करना है वह भूलना है।

निश्चय क्या है ? निश्चय स्वरूप आत्मा का अजर अमृत प्याला है ।

जो पहले कुदेवादि को मानता था वह बहुत बड़ा दूषण था, उस दूषण को छोड़कर हर्ष पूर्वक जिनेन्द्रदेव की भक्ति और विनय करता है तब ग्रहीतमिथ्यात्व छूटता है । अधिक संपत्तिशाली का वहुमान करना विनय नहीं है, किन्तु वहां पैसे की रूचि का तीव्र अशुभभाव है ।

संसारमे लड़के लड़की की सगाई विवाह आदि के लिये कितनी चिंता करता हैं और उसमे कितने उत्साह से काम करता है, इसी प्रकार हे भाई ! अरहंतदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान परम पिता, स्वरूप के अन्नदाता, तीर्थ के स्वामी, धर्मनायक, धर्मदाता, धर्मसागर, देवाधिदेव को यदि तू हित-वाछकदेव के रूप मे स्वीकार करता है तो हर्ष पूर्वक आंतरिक उल्लास के साथ उनकी भक्ति पूजा प्रभावना इत्यादि करना चाहिये । जव कोई दूसरा काम करने को कहता हैं यदि तव करे तो यह ठीक नहीं है किन्तु अपने ही अंतरंग से हर्ष पूर्वक इस भावना के साथ काम करना चाहिये कि अहो यह मेरा धन्यभाग्य है कि मुझे यह लाभ मिला है। भला, ऐसा सुअवसर कव मिलता है ? जो सच्चे देव गुरुकी हर्षपूर्वक भक्ति नहीं करता वह व्यवहार से भी अरहंत देवका सेवक नहीं है अर्थात् वह वाह्य जैन भी नहीं है। जो अरहंत का सेवक होता है वह धर्म का काम आने पर हर्ष के मारे कूदने लगता है और कहता है

कि-अहो धन्यभाग है कि मुझे यह काम मिला। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरा राग, मेरा वचन और मेरा धन इत्यादि सब भगवान परमेश्वर देवाधिदेवकी प्रभावना भक्ति के लिये काम आये। देव गुरु धर्म के लिये हमारा तन मन धन उपयोग मे आये तो वह सब सफल है, यही हमारा अहोभाग्य है, इस प्रकार व्यवहार मे जिनदेवादिक का सेवक होकर विचार-पूर्वक व्यवहार सम्यक्त्व के २५ दोषोको नहीं लगाना चाहिये अर्थात् उन दोषो का त्याग करना चाहिये। वे २५ दोष निम्न प्रकार है —

(१) जातिमद—जाति का अभिमान नहीं करना चाहिये, किन्तु देव-गुरु का बहुमान करना चाहिये कि देव गुरु से बढ़कर जगत मे है ही कौन?

(२) लाभमद-धन इत्यादि का मद करना सो लाभ मद है, लाभ का अहकार नहीं करना चाहिये।

(३) कुलमद-'हमारे कुल की सात पीढ़ियों के सभी मनुष्य मक्खन के पिड जैसे कोमल, स्वच्छ और महान् थे' इस प्रकार घमंड करना सो कुल का मद है। अरहत के सेवक के कुलमद नहीं होता किन्तु वह विनय पूर्वक यह विचार करता है कि हमारे देव सर्वज्ञ और वीतराग है।

(४) रूपमद—शरीर की सुदरता का घमड करना सो रूपमद है। रूप का अहकार न करके यह विचार करे कि शरीर की सुदरता प्रकृति की देन है वह कभी भी नष्ट हो सकती है।

(५) तपमद—दश, पंद्रह या तीस उपवास करके उसका अभिमान करना सो तपमद है। जो व्यवहार से भी अरहंत भगवान का भक्त है, उसके यह मद नहीं होता।

(६) बलमद—शरीर के बल का अभिमान करना सो बल-मद है। ज्ञानी के शरीरबल का मद नहीं होता, वह विचार करता है कि अरे, बल किसका। यह शरीर आत्मा का था ही कब। मरण के समय आंख की पलकों का हलन चलन तक बंद हो जाता है

(७) विद्यामद—विद्या का अभिमान करना सो विद्या का मद है। अरहंतदेवका भक्त लौकिक विद्याओंका अभिमान नहीं करता।

(८) अधिकारमद—किसी प्रकार का लौकिक अधिकार मिलने पर उसका घमंड करना सो अधिकारमद है? बड़ा पद मिलना पूर्व पुण्य का फल है। हम कलक्टर हैं, हम लक्षाधिपति हैं, हम समाज के मुखिया हैं, इस प्रकार पदवियों का अहंकार नहीं करना चाहिये। आखिरकार त्रिलोकीनाथ अरहंत देव के सामने तो तू रंक ही है। अरहंतदेवकी सौ सो इन्द्र पूजा करते हैं और उनके चरणों मे रत्नजडित मुकुटमय मस्तकको नमाते हैं, उन मुकुटों के एक एक रत्नकी कीमत पर चक्रवर्ती का राज्य न्योछावर हो सकता है। इन्द्र के सिंहासन के नीचे के पत्थर का मूल्य अरबों रुपयों से अधिक होता है, ऐसी ऋद्धि के स्वामी ३२ हजार विमानों के धनी इन्द्र भी अरहंत देव के पास नम्रता भक्ति भाव और

उल्लास पूर्वक नाचने लगते हैं और वही इन्द्र जब अपनी इन्द्रसभा मे इन्द्रासन पर बैठता है तब सिंहगर्जना करता है और बहुत ही गंभीर बन जाता है। ऐसे प्रतापी इन्द्र भी जब भगवान की पूजा करते हुये भक्तिभाव से नाच उठते है तब उनके सामने तेरे इस अधिकार की कीमत ही क्या है। इसलिये अधिकार का मद नहीं करना चाहिये। यहां अभी यह बताया गया है कि बाह्य जैनी कैसे हुआ जाता है। यदि कोई आत्मा को पहिचान कर अंतरंग जैनी बने वह तो अपूर्व है।

(९–११) कुगुरु-कुदेव–कुधर्म— की सेवा करना सो मूढ़ता है। जिनेन्द्रदेव के भक्त के यह मूढताऐं नहीं होती। यहांपर द्वेषभाव की कोई बात नहीं है किन्तु सत् असत् का विवेक बताया है।

(१२–१९) शंका–कांक्षा–विचिकित्सा-मूढ़दृष्टि–अनुपगूहन अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना यह आठ दोष हैं जो जिनेन्द्रदेव के भक्त के नहीं होते।

संख्या से सत्की गिनती नहीं होती किन्तु सत् तो सत् की परीक्षा से सत् है। लौकिक व्यवहार मे भी संख्याकी गणना की मुख्यता नहीं है। श्री कृष्ण एक ही थे वे जरासिंघ की लड़ाई में करोडों मनुष्यों के साथ अकेले ही लड़े थे और फिर भी उन्हें हटा दिया था। करोडों बकरों के झुंड के लिये एक सिंह ही काफी है। यहां पर कोई यह शंका नहीं करता कि इतने सारे बकरोंको एक सिंह कैसे भगा देता है, इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव का भक्त इस प्रकारकी शंका, आकुलता या परेशानी में नहीं पड़ता कि जिस धर्म को अधिक मनुष्य

मानते हैं वह धर्म सच्चा होगा कि जिसे थोड़े लोग मानते हैं वह सच्चा होगा। वह तो परीक्षा करके निश्चय करता है। देव गुरु अथवा साधर्मियों के प्रति अरहंतदेव का भक्त अरुचि नहीं करता किन्तु प्रीतिपूर्वक उनका आदर करता है।

(२०-२५) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनों के सेवक-यह छह अनायतन हैं। जिनेन्द्रदेव का भक्त इनका आदर नहीं करता।

जो जीव ऊपर कहे गये पच्चीस दोषों को विचार पूर्वक दूर कर देता है वही जन्म जरा और मरण को मिटाने में निमित्तभूत जो परम वैद्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव हैं उनका व्यवहार से भक्त कहलाता है।

यहां पर पच्चीस दोषों का त्याग विचार पूर्वक करने को कहा गया है। कुल परंपरा से त्याग होने के कारण ही त्याग नहीं करना चाहिये किन्तु यहांपर समझकर विचार पूर्वक इन दोषों को दूर करने की बात है। पहले सच्चे देव गुरु की पहिचान करके उनकी भक्ति, पूजा, प्रभावना करनी चाहिये। उनके लिये तन, मन, धन इत्यादि खर्च करने पर व्यवहार से अरहंतदेवका भक्त कहलाता है तभी उसके स्थूल मिथ्यात्व का पिंड छूटता है किन्तु उसके भीतर अभी भी सूक्ष्म मिथ्यात्व मौजूद है। खर्च करने से लक्ष्मी कम नहीं होती किन्तु यदि पुण्य घट जाये तो लक्ष्मी के घटते देर नहीं लगती। जो यह मानते हैं कि खर्च करने से लक्ष्मी घट जाती है उन्हें पुण्य में भी श्रद्धा नहीं है। जब सच्चे देव-शास्त्र और गुरु को पहचान कर उनके लिये तन मन धन का हर्ष पूर्वक उपयोग

करता है तब व्यवहार से भगवान का भक्त कहलाता है। प्रशस्त शुभराग होने पर गृहीतमिथ्यात्व छूटता है और अंतर स्वभाव की शक्ति के द्वारा शुभराग का भी इनकार करदे कि 'यह राग मेरा स्वरूप नहीं है' तो इस प्रकार शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा करने पर उसके परमार्थ सम्यक्त्व होता है। अनादि का अगृहीतमिथ्यात्व छूटने पर जो वास्तवमें जिनेन्द्र भगवान का भक्त होता है वही जैन है।

प्रश्न—आपने तन, मन और धन खर्च करने की बात कही हैं सो ठीक है किन्तु यदि इन तीनों में से धन को छोड़कर तन और मन लगाया जाय तो ६६ प्रतिशत लाभ होगा या नहीं ?

उत्तर—एक प्रतिशत भी लाभ नहीं होगा। घर के लड़कों के लिये क्यों सब कुछ करते फिरते हो। 'पांच लाखकी पूजी है उसे तुझे देने का भाव तो है किन्तु तुझे एक पाई भी नहीं दूंगा' इस प्रकार यदि अपने लड़के से बात की जाय तो वह नहीं चल सकती इसी प्रकार जिसे देव गुरुकी सच्ची भक्ति है वह देव गुरु धर्मकी प्रभावना, भक्ति इत्यादि का प्रसंग आनेपर हर्ष से कूदने लगता है और कहता है कि अनंतकाल मे मेरे मन के आंगन मे त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पधारे हैं। में अपने भगवान के लिये सर्वस्व अर्पित कर दूंगा, ऐसी बात एकवार तो लाव! सच्चे देव गुरु का संयोग मिलना अनंतकाल में दुर्लभ है। अहमिन्द्र पद और राजपद इत्यादि अनंतवार मिलते हैं किन्तु सच्चे देव गुरु को प्राप्ति दुर्लभ है।

यह धर्म अपूर्व है, यही करने योग्य है, सबकुछ छोडकर सच्चे देव–गुरु और धर्म की शरण मे एक बार अर्पित हो जा, जो भगवान का भक्त है वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के लिये लक्ष्मी का अमुक निश्चितभाग दान मे अवश्य निकालता है। जो सर्वोत्कृष्ट होता है वह दान मे चतुर्थ भाग निकालता है जो मध्यम होता है वह छट्ठा भाग निकालता है और जो जघन्य से जघन्य होता है वह कम से कम दशमा भाग तो अवश्य दान मे लगाता है। संसार मे लड़कों बच्चों के लिये क्यो संग्रह करके रख छोड़ते हो? जिसे देव, गुरु, धर्म की सच्ची रुचि उत्पन्न होगई है उसे तन मन धन खर्च करने की उमंग हुये विना नहीं रहती।

अरे भाई! तुझे अपने इस उत्तम मनुष्य भव का लेखा करना है या नहीं? यदि तुझे अपने मानव भव को सफल करना हो तो सच्चेदेव गुरु और धर्म को पहचान कर उनकी श्रद्धा करो, उनकी भक्ति और प्रभावना इत्यादि में तन, मन, धन और ज्ञान को लगाओ। संसार व्यवहार मे जब कोई महमान घर आया हो तब उसकी सुविधा का कितना ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान और परम गुरु के प्रति तुझे भक्ति पैदा न हो और यह विचार न आये की उनकी सुविधा व्यवस्था कैसे करनी चाहिये तो कहना होगा की तुझे देव गुरु धर्म प्रति सच्ची प्रीति नहीं है।

प्रश्न—आपने कहा है कि पर द्रव्य का परिणमन आत्मा के आधीन नही है तो यह बात यहां क्यों कर घटित होगी?

उत्तर—यह सच है कि परका परिणमन आत्मा के आधीन

नहीं है. किन्तु यदि तुझे पर संबंधी भाव ही पैदा न होता हो तब तो ठीक है लेकिन अभी तू वीतराग तो हो नहीं गया जिससे कि तेरे शुभाशुभ भाव ही न हों। तुझे स्त्री पुत्र संबंधी अशुभ राग होता है और विषय कषाय के अशुभभाव भी होते हैं किन्तु जब देव गुरु धर्म संबंधी शुभभावकी बात होती है तब तू कहता है कि पर द्रव्यका परिणमन आत्मा के आधीन नहीं है इसका अर्थ यही हुआ कि तुझे शुभ और अशुभ का विवेक ही नहीं है और जब शुभाशुभ का विवेक ही नहीं है तब शुभाशुभ रहित आत्मस्वभावकी पहचान कहां से करेगा?

"ज्ञानी कहते हैं कि शुभ राग से धर्म नहीं होता इसलिये हमें देव गुरु की भक्ति की ओर कोई उत्साह नहीं होता।" एक ओर तो यों कहता है और दूसरी ओर स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी इत्यादि के अशुभराग में रत रहता है, इसका मतलब यह हुआ कि उस जीवको निमित्तकी परीक्षा करना नहीं आती। यह तो अवश्य कहा है कि शुभराग से धर्म नहीं होता किन्तु यह कहां कहा है कि शुभरागको छोड़कर अशुभ राग करो? जिसे निमित्तकी परीक्षा का भान नहीं है वह अपने उपादान स्वरूपको कैसे पहचानेगा?

भगवान अरहंतदेव, सद्गुरु और सत्‌शास्त्र सत्‌स्वरूप के समझने में निमित्त हैं। भगवान अरहंतदेव का सच्चा भक्त तन, मन, धन से सद्भावरूप भक्ति इत्यादि में प्रवृत्ति करता है, अपनी शक्ति न हो और यदि कोई दूसरा साधर्मी बंधु देव, गुरु धर्म की प्रभावनादि सत्कर्मों में प्रवृत्ति करता है तो वह इसकी कोई ईर्ष्या नहीं करता, किन्तु उल्लसित होकर

कहता है कि मेरी ओर से मेरा साधर्मी भाई देव--गुरु का कार्य करता है- वह धन्य है। इस प्रकार वह भाव अनुमोदना करता है किन्तु दूसरे की ईर्ष्या नहीं करता। यदि वह ईर्ष्या करता है तो समझना चाहिये कि उसकी देव-गुरु के प्रति सच्ची भक्ति नहीं है, उसके भीतर ग्रहीत मिथ्यात्व की शल्य मौजूद है।

卐

अब यहा यह बताया जाता है कि-जिसके आत्मा का सर्वज्ञ वीतराग स्वभाव प्रगट हो गया है वह भगवान अरहंतदेव का भक्त कैसा होता है? समयसार मे निश्चय भक्ति की अर्थात् अपनी शुद्ध स्वरूप की भक्ति की बात है और यहा इस सत्ता स्वरूप मे व्यहार भक्ति अर्थात् सर्वज्ञदेव की भक्ति की बात है। जिस प्रकार दूसरों को अपने माने हुये कुदेवादि के प्रति प्रेम होता है उनसे भी अधिक प्रेम सच्चे देव गुरु के प्रति जिन जीवों को होता है और जो सुदेवादि के लिये हर्ष और उत्साह पूर्वक तन-मन-धन लगाते हैं वे देव-गुरु के प्रति प्रीतिवान् कहे जाते है, अर्थात् वे व्यवहार से जिनेन्द्रदेव के भक्त हैं। सर्वज्ञ भगवान और सच्चे गुरु तथा शास्त्र का भक्त होने पर वह तन, मन, धन, वचन और ज्ञान इत्यादि से उन्हीं मे प्रवृत्ति करता रहता है। अभी यहां तक आत्मा की श्रद्धा नहीं हो पाई है, किन्तु उन्हें सच्चे निमित्त जो देव-शास्त्र-गुरु हैं उनके प्रति श्रद्धा हो गई है। पहले सच्चे देव गुरु को पहचान कर यदि उनके लिये तन मन धन अर्पण करने की भावना आजाय और वह कुगुरु कुदेवादि मे प्रवृत्ति न करे तब ग्रहीतमिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्मा की इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि देव गुरु के प्रति जो राग है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है तब उसके अनादि कालीन अग्रहीतमिथ्यात्व भी छूट जाता है। जो जिनदेव का भक्त होता है वह अन्य कुदेवादि को

नहीं मानता, वह अभाव की साधना करता है, किन्तु मिथ्या-सद्भाव को नहीं मानता, उसकी अनुमोदना नहीं करता और उसका सहायक नहीं बनता। अमृत के अभाव में विष की साधना नहीं करता अर्थात् साक्षात् जिनेन्द्र श्री अरहंत परमात्मा के अभाव मे अन्य कुदेवादि मे 'यह मेरे देव होंगे' इस प्रकार अपने मनमें देवत्व की कल्पना भी नहीं करता।

प्रश्न—सच्चे देवको देखे विना उनका निश्चय कैसे करता है?

उत्तर—जैसे कोई आदमी किसी बंद मकान में वीणा बजा रहा है यद्यपि वह आंखों से दिखाई नहीं देता किन्तु बाहर का आदमी उसकी वीणा बजाने की कला पद्धति और स्वर इत्यादि से उस पुरुषको देखे बिना ही उसकी कला इत्यादि का निर्णय कर लेता है, अथवा गाने वाले की शैली, स्वर और कला इत्यादि से गानेवाले के स्वरूप का निश्चय कर लेता है, उसी प्रकार इस शरीररूपी मकान में जो वाणीरूपी वीणा है उसके द्वारा भीतर के आत्मा का सर्वज्ञ पद का निश्चय हो सकता है, (ऐसा नियम नहीं है कि मनुष्य को अपनी आंखो से देख कर ही उसका निर्णय होता है) भले ही श्रोतागण बोलने वाले की आत्मा को अपनी आंखों से न देखे फिर भी वाणी के पूर्वापर अविरोधी पन से यह निश्चय किया जा सकता है कि यह वाणी सर्वज्ञ की ही है। सर्वज्ञ पद के प्रगट होने पर वाणी और आत्मा दोनों स्वतन्त्र ही थे, किन्तु भीतर जो ज्ञान का सर्वज्ञत्व खिल उठा है उसका निमित्तपना वाणी मे भी आता है, इसलिये सर्वज्ञ का ज्ञान भी पूर्ण है और

मानते हैं वह धर्म सच्चा होगा कि जिसे थोड़े लोग मानते हैं वह सच्चा होगा। वह तो परीक्षा करके निश्चय करता है। देव गुरु अथवा साधर्मियों के प्रति अरहंतदेव का भक्त अरुचि नहीं करता किन्तु प्रीतिपूर्वक उनका आदर करता है।

(२०-२५) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनों के सेवक- यह छह अनायतन हैं। जिनेन्द्रदेव का भक्त इनका आदर नहीं करता।

जो जीव ऊपर कहे गये पच्चीस दोषों को विचार पूर्वक दूर कर देता है वही जन्म जरा और मरण को मिटाने में निमित्तभूत जो परम वैद्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव हैं उनका व्यवहार से भक्त कहलाता है।

यहां पर पच्चीस दोषों का त्याग विचार पूर्वक करने को कहा गया है। कुल परंपरा से त्याग होने के कारण ही त्याग नहीं करना चाहिये किन्तु यहांपर समझकर विचार पूर्वक इन दोषों को दूर करने की बात है। पहले सच्चे देव गुरु की पहिचान करके उनकी भक्ति, पूजा, प्रभावना करनी चाहिये। उनके लिये तन, मन, धन इत्यादि खर्च करने पर व्यवहार से अरहंतदेवका भक्त कहलाता है तभी उसके स्थूल मिथ्यात्व का पिंड छूटता है किन्तु उसके भीतर अभी भी सूक्ष्म मिथ्यात्व मौजूद है। खर्च करने से लक्ष्मी कम नहीं होती किन्तु यदि पुण्य घट जाये तो लक्ष्मी के घटते देर नहीं लगती। जो यह मानते हैं कि खर्च करने से लक्ष्मी घट जाती है उन्हें पुण्य में भी श्रद्धा नहीं है। जब सच्चे देव-शास्त्र और गुरु को पहचान कर उनके लिये तन मन धन का हर्ष पूर्वक उपयोग

वह यह श्रद्धा करले कि सर्वज्ञदेव और कुदेवादिक एक समान नहीं हो सकते तब व्यवहार से सर्वज्ञकी श्रद्धा कहलाती है। सत्य मार्ग एक ही होता है, तीनलोक और तीनकाल मे सत्य के दो मार्ग नहीं हो सकते। वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्य देवको सच्चा माननेवाला वीतराग का भक्त नहीं है।

कुछ लोग जैनधर्म और अन्य धर्मोका समन्वय करना चाहते हैं किन्तु जैनधर्म का अन्य धर्मों के साथ कभी भी समन्वय नही हो सकता। अमृत और विष का समन्वय कैसा? वीतराग का सेवक वीतराग देवके स्वरूप को या बाह्य रूपको अन्यथा न तो कहता है और न मानता है। वीतराग की वाणी सहज स्वभाव से निकलती है भगवानकी वाणी दूसरे के लाभ की इच्छा से नहीं खिरा करती, भगवान तो बिलकुल वीतराग हो चुके हैं, उनकी वाणी भी स्वतन्त्र रूप से खिरती है।

अब यहा यह कहा जाता है कि वीतराग का सेवक कब कहलाता है और व्यवहार से जैन कब कहलाता है?

वीतराग का सेवक वीतरागदेव से विपरीत कहनेवाले की बात भी नहीं सुनता। बाप को गाली देनेवाला बाप का दुश्मन है। अच्छा लड़का उसे मान नहीं दे सकता, इसी प्रकार वीतराग की बात से विरुद्ध कहनेवाले की बात को वीतराग का सेवक कभी नहीं सुन सकता। वह जिनदेव की वीतराग प्रतिमा के रूप को सरागरूप नहीं करता। वीतराग की प्रतिमा के वस्त्र नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकते और शस्त्र आदि रागद्वेष के अन्य चिन्ह भी नहीं हो सकते। जिनदेव तो वीतराग है, आनंदघन हैं। उनके साक्षात् अभाव मे प्रतिमाजी में उनकी स्थापना की जाती है।

स्थापना दो प्रकार की होती है, (१) सद्भावरूप स्थापना (२) असद्भावरूप स्थापना। जिनेन्द्रदेव के अनुसार उनकी मूर्ति में जिन देवत्व का आरोप करना सो सद्भावरूप स्थापना है और पुष्प आदिक में स्थापना सो असद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिन-देवकी प्रतिमामें जिनदेवकी ही स्थापना होती है, इसलिये उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नहीं हो सकता। वह वीतरागदेव का प्रतिबिम्ब है-निर्ग्रंथ है। इस प्रकार जो व्यव-हार से भी जिनदेव का सेवक है, वह जिनदेव के स्वरूप को अन्यथा नहीं मानता, वह जिन प्रतिमा की अविनय नहीं करता। यदि कोई जिन देवकी प्रतिमा का अविनय करता है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता और अविनयादि के स्थान से स्वयं अपने को बचाता रहता है। इसी प्रकार जिनदेव की तरह सद्गुरु और सत्शास्त्रों के संबध मे भी समझना चाहिये। इतना करने पर वह शुभराग में आया हुआ कहलाता है, उसके ग्रहीतमिथ्या-त्व छूट गया है और वह बाह्य जैन कहलाता है और जब वह शुद्ध आनंदघन स्वरूप की श्रद्धा के बलपर शुभराग का भी त्याग कर देता है कि 'मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु देव, शास्त्र, गुरु की ओर जो शुभ विकल्प उठते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अखंड ज्ञायक हूं, मेरे ज्ञायक स्वभाव मे राग का अंश भी नहीं है।' इस प्रकार जब आत्मस्वभाव की श्रद्धा करता है तब वह परमार्थ श्रद्धा है। वह वीतराग का सच्चा सेवक हो गया है, उसका अनादिकालीन विपरीत मान्यतारूप अग्रहीतमिथ्यात्व छूट गया है और वह सच्चा जैन हो गया है।

जिनेन्द्रदेव का भक्त अरहंतभगवान के अतिशयों के स्वरूप को लोक व्यवहार मे भी अन्यथा नहीं कहता। यह कहना गलत है कि जो भगवान के समोशरण मे जाता है वह वहां धर्म के स्वरूप को प्राप्त कर ही लेता है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान का अतिशय हैं। यदि भगवान के पास पहुचने से सब धर्म को प्राप्त कर लेते है तब तो निमित्त से कार्य हुआ कहलाया, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। लेकिन, जो जीव वहां जाकर स्वय अपने पुरुषार्थ से धर्म को समझता है तो वह धर्म को प्राप्त करता है, इस प्रकार भगवान पर निमित्तारोपण कहा जा सकता है।

प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र परिपूर्ण है, तू स्वतत्र है, तुझे परकी आवश्यक्ता नहीं है, इस प्रकार भगवान प्रत्येक तत्वकी स्वतन्त्रताकी घोषणा करते हैं। भगवान किसी को तार नहीं देते। यदि भगवान दूसरे को तार सकते हो तो वे समस्त विश्व के सर्व जीवोको तार देते। और इससे संसार के अभाव का ही प्रसंग आ जाता। भगवानकी वाणी भी निमित्त मात्र है और वह भी यदि स्वयं यथार्थ समझले तो निमित्त कहलाती है अन्यथा वह निमित्त भी नहीं है।

यदि भगवान किसीको तार सकते होते तो, अभीतक अनंत भगवान हो गये है फिर भी आज तक किसीने तुझे क्यों नहीं तारा। यह बात नहीं है कि भगवानने नहीं तारा इसलिये तू अभीतक संसार मे चक्कर लगा रहा है, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि स्वाश्रित स्वभावकी यथार्थ समझ के बिना ही अभीतक यह जीव चक्कर लगा रहा है एक भी बात में उल्टा

नहीं चल सकता। यदि एक भी बात उल्टी हो गई तो समस्त तत्त्व ही उड़ जायगा। सब को समस्त पहलुओंसे बराबर समझना चाहिये। त्रिलोकीनाथ तीर्थकरकी पेढी पर बैठकर उनकी ओर से बात करनी है कि भगवान ऐसे हैं, यह तो धर्म का राजमार्ग है, यह त्रिकालिक सनातन धर्मकी जाज्वल्यमान पेढ़ी का स्पष्ट मार्ग है। यह सनातन राजमार्ग अनादिकाल से एक ही प्रकार चला आ रहा है, उसमें कुछ अन्यथा नहीं हो सकता।

कोई कहता है कि भगवान की मूर्ति तो जड है उसके समाधान के लिये कहते हैं कि अरे भाई! अभी तू जड चेतन को समझ ही कहाँ पाया है। अभी तक तू जड़ और चेतन के स्वरूप को भी नहीं जानता। तेरे स्त्री पुत्रादि भी जड ही हैं, फिर भी तू उनपर राग क्यों करता है। आत्मा, स्त्री पुत्रादि नहीं है और तू उनके आत्मा को जानता भी नहीं है, केवल इस शरीर में ही तू स्त्री पुत्रादिपना मान बैठा है। अरे! यह शरीर तो जड़ है, फिर भी तू उनपर अशुभ राग क्यों करता है, और जहा देव की बात आती है वहां तू कहता है कि मूर्ति तो जड़ है, तब कहना होगा कि तुझे देव गुरु की पहिचान ही नहीं है और न तू उनका भक्त ही है। भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका मे देव शास्त्र गुरु के प्रति शुभराग हुये विना नहीं रह सकता। वह जिनदेव की सच्ची प्रतिमा की तथा सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र की अविनयादि नहीं होने देता, तथा उसके विरुद्ध कुदेवादिका आदर नहीं करता, इस प्रकार जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को पहचान कर कुदेवादि

की मान्यता का त्याग करता है तब यह कहा जा सकता है कि इस जीवने तीव्र मिथ्यात्व का त्याग कर दिया है। जो रुपये पैसे आदि की आशा से वीतराग भगवान की भक्ति करता है वह व्यवहार से भी भगवान का भक्त नही है। यदि कोई लौकिक आशा से सच्चे देव-गुरु को मानता हो और कुदेवादि को नहीं मानता हो तो भी वह पापी है उसके ग्रहीतमिथ्यात्व भी छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता। वीतरागी देव-गुरु तो धर्म को समझने के लिये निमित्त मात्र हैं, उसकी जगह यदि कोई लौकिक आशा से उनको मानता है तो उसके पुण्य नहीं होगा, किन्तु वह पापबध करता है तब धर्म को समझने की बात तो दूर ही रही।

विषय कषाय आदि के आश्रय से रहित सच्चे देवादि में यथार्थ प्रवृत्ति करने से ग्रहीतमिथ्यात्व छूटता है। तुम अपने परिणाम मे यह विचार करो कि पहले कुदेवादि मे मेरी जो भक्ति थी, उससे भी अधिक भक्ति सच्चे देव गुरु आदि मे (उन्हें पहचान कर, उनके प्रति) हुई है या नहीं ? यदि सच्चे देवादि के प्रति आंतरिक उत्साह से पहले जितनी भक्ति प्रगट नहीं हुई है तो कहना होगा कि उसके सच्ची प्रीति भी प्रगट नहीं हुई। यदि जिनेन्द्रदेव के प्रति आंतरिक प्रीति प्रगट हुई होगी तो उसका कार्य भी बाहर दिखाई दिये बिना न रहेगा। यदि सच्चे देव गुरु और धर्म के लिये तन, मन, धन खर्च करने का उत्साह तेरे मन मे नहीं होता तो समझना चाहिये कि तेरा भविष्य ही खराब है। यदि तेरे अतरग में सच्चे देव, गुरु और धर्मकी भक्ति का प्रेम नहीं उमड़ता तो तू जो कुछ

भी करता है वह मात्र लोगों के दिखाने के लिये करता है। किन्तु भाई, तू सर्वज्ञ के ज्ञानको तो धोखा नहीं दे सकेगा। यह हो सकता है कि तू कदाचित संसारको धोखा देले किन्तु सर्वज्ञदेव को धोखा नहीं दे सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि तू आंतरिक भावों से भिन्न फल प्राप्त नहीं कर सकेगा। तेरे विपरीत भावों का अनुकूल फल नहीं मिल सकता। सच तो यह है कि कोई दूसरे को धोखा दे ही नहीं सकता, किन्तु अपने ही भावको धोखा देता है।

जो पहले कुदेवादि के लिये तन, मन, धन से उत्साह-पूर्वक प्रवृत्ति करता था वह अब सच्चे देव-गुरुकी पहिचान होने पर उससे भी अधिक उत्साह से तन, मन, धन, ज्ञान, काल और क्षेत्र इत्यादि को लगाये बिना नहीं रहेगा। यदि सत्यको समझले तो सत् का बहुमान हुये बिना रह ही नहीं सकता। यदि कोई सच्चे देव-गुरु और धर्म के लिये उत्साह पूर्वक तन, मन, धनका खर्च न करे और कहे कि हम सच्चे देव गुरुको मानते है तो समझना चाहिये कि वह कपटी है, उसकी बात गलत है।

प्रश्न—हमने पहले से ही कभी कुदेवादि में भी प्रीति नही की थी, हमने कभी कुदेवादि के लिये कोई खर्च नहीं किया और अब भी हम कोई खर्च नहीं करते, तब तो किसी प्रकार कपट नही कहलायेगा ?

उत्तर—लड़का बिमार पड़ा हो तब कुदेवादि की मानता करता है अथवा औषधि उपचार करता है उस समय यदि कोई कहे कि दो चार हजार रुपया अमुक दवा के लिये खर्च

करने होंगे तो वहां किसी भी तरह की आनाकानी किये विना प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेता है और जब यहां देव गुरु धर्म के प्रभावनादि कार्यों में तन, मन, धन खर्च करने की बात आती है तब बहाने बनाता है कि वीतरागको तो कुछ खपता ही नहीं है—शासनका पुण्य होगा तो शासनकी प्रभावना हो जायगी, इस प्रकारकी झुठी बहानेबाजी वीतराग मार्ग मे नहीं चल सकती। यह तो सच है कि वीतराग के सब कुछ नहीं खपता किन्तु तू अपने रागको भी तो कम कर, तुझे तृष्णा कम करने से किसने इनकार किया है। लोक व्यवहार मे शोभा और मान बढाई के लिये-समधी समधिन इत्यादि को खुश करने के लिये तन, मन, धन खर्च करते हो और यहां सर्वज्ञ वीतराग देव-गुरु-धर्मकी भक्ति, प्रभावना इत्यादि के लिये तन, मन, धन खर्च करने का कोई उत्साह ही नही होता, कहना होगा कि तुम्हे वीतरागदेवकी श्रद्धा ही नही है।

प्रश्न—आरंभ परिग्रह के कार्यों का भगवानने क्या निषेध नहीं किया है?

उत्तर—तुझे आरंभ परिग्रह का भान ही कब था। स्वरूप में से निकल कर परभाव मे प्रवृत्ति करना ही आरंभ परिग्रह है। अपने स्वरूप की विपरीत मान्यता परिग्रह है और उस विपरीत मान्यता पूर्वक जो चारित्र है सो आरंभ है, स्वरूप का भान हुये विना आरंभ परिग्रह को कैसे रोकेगा? आरंभ परिग्रह बाह्य मे नहीं किन्तु अपने भाव मे है। संसार के प्रति जो अशुभ परिणाम है सो तीव्र आरंभ परिग्रह है और देव गुरु के प्रति जो शुभराग है सो अल्प आरंभ परिग्रह

है। प्रथम भूमिका मे देव, गुरु, धर्म के प्रति शुभराग, भक्ति और बहुमान हुये विना नहीं रह सकता। देव-गुरु-धर्म के प्रति जो राग है वह प्रात:कालीन अरुणोदय के समान है, जिसके पीछे प्रकाश है। अर्थात् स्वभाव के वल से शुभराग को भी दूर करके वह केवल ज्ञानरूपी सूर्य को प्रगट कर लेगा और संसार संबंधी कोई भी शुभराग (परजीव की दया, दान इत्यादि के भाव) सायंकाल के समान है, जिसके पीछे अंधकार है। चैतन्य सूर्य अल्पकाल मे अस्त हो जायगा, अर्थात् शुभराग के समय जो अहंकार होता है उसका फल भोगने के समय अशुभ परिणाम होगा, जिससे वह नीच गतियों में परिभ्रमण करेगा।

प्रश्न—तव क्या हमे सवकुछ दे डालना चाहिये? हमारे पीछे स्त्री वच्चे आदि भी तो हैं?

उत्तर—स्त्री वच्चे हैं सो वे क्या है? यह देव-गुरु सच्चे हैं या स्त्री पुत्रादि। स्त्री वच्चे तो संसार के निमित्त हैं और वीतराग देव गुरु भक्ति के निमित्त हैं। जवतक परम वीतराग देव-गुरु और धर्म के लिये एकवार सर्वस्व समर्पण कर देने की भावना नहीं होती तवतक उसके सच्ची भक्ति नहीं कही जा सकती। वर्तमान मे तेरे साथी अपने माने हुये कुगुरु-कुदेवादि की भक्ति करते हैं और तू कुदेवादि को नहीं मानता, किन्तु वंगला, मोटर और वागवगीचा इत्यादि के लिये धन खर्च करता है लेकिन वीतराग देव गुरु और धर्म के लिये खर्च करने का उत्साह नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि तुझे देव गुरु की महत्ता प्रतिभासित ही नहीं हुई। वीतरागी देव-गुरु बड़े

हैं या तेरे बंगला, बाग बगीचे इत्यादि। जगत के सबसे बड़े तारनहार देवाधिदेव अरहंत परमात्मा और एक ही भवमें मोक्ष जाने वाले परम गुरु मे तुझे कोई महत्ता प्रतिभासित हुई है या नहीं।

वीतरागी देवगुरु को बड़ा कहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी को कोई फल दे देते हैं किन्तु देव गुरु के निमित्त से तू अपने मंदभाव कर और अपने भाव के फल को प्राप्त करें। भगवान या गुरु तुझे कुछ नहीं दे देंगे।

कोई यों कहे कि हमें सत्य को समझने का समय ही नहीं मिलता। उसके लिये कहते हैं कि भाई! तुझे धन, कुटुम्ब इत्यादि की व्यवस्था करने का समय मिलता है, धन, कुटुम्ब, मकान, स्त्री, बच्चे शरीर और इंद्रियों के विषय इत्यादि को पुष्ट करने के लिये समय मिलता है और उनके लिये तन, मन, धन खर्च करता है और वीतराग देव गुरु के लिये तुझे समय नही मिलता? किन्तु जिस प्रकार अन्य कार्यों मे प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार यदि देव गुरु धर्म के लिये प्रवृत्ति नहीं करेगा तो तुझे देव गुरु धर्म के प्रति रुचि ही नहीं है जिस प्रकार तू विवाहादि कार्यो मे अपने पद के अनुसार प्रवृत्ति करता है, अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार खर्च करता है उसी प्रकार जहां जहा देव शास्त्र और गुरु की प्रभावना इत्यादि की अनेक प्रकार से आवश्यकता हो वहां पर भी तू इसी प्रकार प्रवृत्ति करता है या नहीं? इसमें कहीं कंजूसी तो नहीं करता। तू अपने परिणाम का विचार कर देख। जबतक तुझमे विशेष धर्म वासना नहीं होगी अर्थात् आत्मस्वरूप के भान मे सर्व-

त्यागी होकर स्वरूप की रमणतारूप चारित्रदशा नहीं होती तबतक उसके भागानुसार देव, शास्त्र गुरु के लिये तन, मन, धन लगाया कर। भाई! जिस प्रकार तू विवाहादि कार्य में तेरे पदानुसार धन इत्यादि खर्च करता है उसी प्रकार जबतक गृहस्थाश्रम मे है तबतक देव गुरु धर्म के लिये उनके भागानुसार तन मन धन, क्षेत्र, काल, ज्ञान और श्रद्धा इत्यादि का विभाग कर। यह सब तेरा भाव सुधारने के लिये कहा जा रहा है।

प्रश्न—भगवान धन, क्षेत्र इत्यादि का क्या करेंगे?

उत्तर—तुझे भगवान को कहां देना है, भगवान के लिये कुछ नहीं करना है किन्तु यह तेरी तृष्णा कम करने के लिये है। तू देव शास्त्र गुरु की प्रभावना के लिये खर्च कर। यदि तुझे सत् के प्रति रुचि हुई है तो यह देख कि अन्य साधर्मियों में से किसे किस बात की प्रतिकूलता है और यह देख-जानकर यदि किसी को शास्त्र इत्यादि की आवश्यकता है तो उसकी पूर्ति के लिये अपने पद के अनुसार हिस्सा दे। यहांपर अपनी पूंजी के प्रमाण मे अपने पद के योग्य खर्च करने को कहा गया है। यदि दश लाख की पूंजी हो और उसमे से सौ दोसौ रुपये खर्च करता है तो वह पद योग्य नहीं कहा जा सकता। तू जितना देव शास्त्र गुरु की भक्ति प्रभावना में खर्च करेगा, उतना तेरे पास रहेगा और स्त्री बच्चे आदि के लिये जो संग्रह कर रखा है उसमे से एक पाई भी तेरे साथ नहीं रहेगी। यदि लोक व्यवहार में भी विवेक करना आता है तो यहां भी विवेक करना चाहिये।

दृष्टांत—एक वुढ़िया थी, उसकी अपनी पुत्रवधु के साथ अनवन रहा करती थी और अपनी लड़की पर खूव प्रेम था। एक वार उसके लडकेने अच्छा धन कमाया इसलिये उसने अपनी वुढ़िया मां से कहा कि मा मैंने अच्छा धन कमा लिया है इसलिये अव अपनी वहिन और स्त्री के लिये एक एक हजार रुपये के गहने वनवा लिये जाय? वुढिया ने विचार किया कि लडकी के लिये जो गहने वनवाये जायगे वे जव लड़की की शादी होगी तव उसके साथ ही दे देना होंगे इसलिये वे घर मे नहीं रहेंगे और पुत्रवधु के लिये जो गहने वनवाये जायगे वे सव घर मे ही रहेंगे, यो विचार करके (यद्यपि पुत्रवधु के साथ उसकी अनवन रहा करती थी, फिर भी) उसने कहा कि भाई, वहू के लिये एक हजार रुपये के गहने भले वनवादे किन्तु वहिन के लिये यदि सौ दोसौ रुपये के गहने वनवादेगा तो भी चल जायगा। यद्यपि वुढ़िया को तीव्र ममता है किन्तु यहा केवल यही देखना है कि वुढ़ियाने यह विवेक [विचार] कर देखा कि इसमे से घरमे कितना रहेगा और वाहर कितना जायगा।

इसी प्रकार सच्चे देव गुरु और धर्म की प्रभावना के कार्यो मे जितना धन खर्च होगा उसके भाव का फल तेरे घरमे रहेगा और जो तूने इकट्ठा कर रखा है वह कहीं तेरे साथ रहनेवाला नहीं है, इस प्रकार का विवेक (विचार) करके अपने तन-मन-धन को देव गुरु और धर्म के लिये यथाशक्ति अर्पण कर। वह वुढ़िया जितना विवेक कर सकी क्या तू इतना भी विवेक नहीं कर सकता। तू अपने पुरुषार्थ

से जितनी तृष्णा कम करेगा उतना ही तेरे घरमें रहेगा। जबतक मुनिपना प्रगट नहीं हो जाता तबतक जो उत्तम ग्रहस्थ है उसे लक्ष्मी का चतुर्थ भाग, मध्यम को छट्ठाभाग और जघन्य को दशमांश देव गुरु धर्म की प्रभावनादि के शुभकार्यो मे अवश्य खर्च करना चाहिये। जब इनकम टैक्स देना पड़ता है तब वह क्यों देते हो, इसी प्रकार यहां देव गुरु और धर्म के लिये भी यथाशक्ति तन मन धन लगाना चाहिये। यदि तुझे देव गुरु धर्म की भक्ति प्रभावना का उल्लास पैदा नही होता तो कहना होगा कि तुझे धर्म कार्य फीके लगे है और इससे तेरा भविष्य ही खराब मालूम होता है।

भाई! तुझे तो अपना अच्छा करना है न? जिसे अपना हित करना हो उसी के लिये यह बात कही जा रही है। जिसे अपनी चिंता नहीं है उसके लिये कुछ नहीं कहा जा रहा है। भौंरा गुंजन करता हुआ फूल की कली पर बैठता है और फूलकी कली खिल उठती है किन्तु जब वह लक्कड़ पर बैठता है तब कहीं लक्कड नहीं खिल जाता। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हम अध्यात्म रसका गुंजन कर रहे हैं जो निकट मुक्ति गामी भव्य जीव होंगे वे अंतर से खिल उठेंगे किन्तु जो दीर्घ संसारी जीव होंगे उन्हे यह अध्यात्म रसका उपदेश नहीं रुचेगा।

जगत के प्राणियोंको लोभरूपी कुंए मे से निकालने के लिये श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका मे दान का उपदेश देते हुये कहा है कि जबतक ग्रहस्थ दशामें हो तबतक देव शास्त्र गुरु के लिये तन मन धन लगाते रहो। पैसा खर्च करने से कम

नही होता, किन्तु जब पुण्य कम हो जाता है तब पैसा कम होजाता है। जो यह मानता है कि पैसा खर्च करने से कम हो जायगा उसे पुण्य के प्रति भी श्रद्धा नहीं है। जब तक पुण्य होगा तब तक पैसा नहीं घटेगा और यदि घट गया तो लाख उपाय करने पर भी पैसा नहीं रहेगा।

यह बात मात्र भाइयो के लिये ही नही किन्तु बहिनों के लिये भी इसी प्रकार है। उपर्युक्त कथन भाइयो और बहिनो को एक सा लागू होता है। क्या मात्र पुरुष ही दान कर सकते है और स्त्रियो को दानादि कार्य मे पैसा खर्च करने का अधिकार नहीं है? क्या स्त्री पुरुषका मात्र खिलौना है? स्त्रीको खुश करने के लिये कहता है कि देख तेरे लिये यह गहने बनवाये है जब कि वे गहने उसके हैं और उसके लिये हैं तो उन गहनो को वेचकर दान मे खर्च कर देने का अधिकार स्त्री को है या नहीं? कया उसका इतना ही अधिकार है कि वह अच्छी अच्छी रसोई बनाकर तुझे जिमाया करे, पैसा खर्च करने का भी उसका आधा अधिकार होना चाहिये। स्त्री को भी स्पष्ट सुना देना चाहिये कि मै भी पुण्य लेकर आई हू, मुझे भी धन खर्च करने का अधिकार है। मतलब के समय तो अर्धाङ्गिना अर्धाङ्गिना करते हो तब फिर धन खर्च करने मे भी मेरा आधा भाग है या नही? यदि मै अपनी इच्छानुसार दानादि नहीं कर सकती तो फिर क्यो मै इस आधे भाग की पूजा करू, उसकी आरती उतारूं? कया मैं रसोई घर मे ही अपनी जिंदगी पूरी करने आई हू? मुझे भी देव गुरु धर्म के प्रति भक्ति है इसलिये मै भी अपनी

इच्छा के अनुसार धन खर्च करूगी। जब मंदिर में भगवान के कलशों की या आरती की बोली होती है तब यदि स्त्रियों की बोली बोलने की इच्छा होजाय तो उन्हें पुरुषों से पूंछना चाहिये? देखो तो यह कैसी धर्म की रुचि है। सच्चे देव गुरु और धर्म की पहिचान कर जब उनकी पूजा, भक्ति और प्रभावनादि में उल्लासपूर्वक तन, मन, धन, ज्ञान और श्रद्धा इत्यादि लगाओगे तब बाह्य जैन बनोगे, तब ग्रहीतमिथ्यात्व छूटेगा, यह तो अभी स्थूल मिथ्यात्व छूटने की—व्यवहार जैन बनने की बात कही गई है, विशेष आगे कही जायगी।

卐

अब यहां यह कहा जाता है कि बाह्य जैनी कैसा होता है। जिसने अपने आत्मा के स्वभाव के बल से अपनी पूर्ण दशा रूप परमानंद स्वरूप प्रगट कर लिया है, ऐसे वीतराग जिनदेवको बाह्य लक्षणों द्वारा पहचान कर माननेवाला बाह्य जैन है और जो अपने अंतरंग के वीतराग स्वरूपकी श्रद्धा करता है वह अंतरंग जैन है।

प्रश्न–जो अंतरंग स्वरूपको मानता है और बहिरंग में देव गुरु, को नहीं मानता, वह क्या कहलायेगा ?

उत्तर—या तो वह वीतराग होगा या बिलकुल मूढ़ होगा।

प्रश्न–जो बाह्य को नहीं मानते क्या वे सब वीतराग होते हैं ?

उत्तर—बाह्यको नहीं माननेवाले दो प्रकार के होते हैं एक तो अरहंत वीतरागदेव और दूसरे अज्ञानी मूढ़ जीव। उनमें से सर्वज्ञ अरहंतदेव अंतरंग ज्ञानको लेकर संपूर्ण वीतराग हैं और अज्ञानी अज्ञान को लेकर संपूर्ण रागी है।

अपने अंतरंग स्वरूपका भान करना सो अभ्यंतर जैनत्व है, उस जैनत्व के प्रगट हुये बिना वीतरागता नहीं आ सकती और अंतरंग जैनत्व प्रगट होने के बाद पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती वहां देव, गुरु, धर्मकी भक्ति प्रभावना इत्यादि का शुभराग होता है। यह सर्वज्ञ भगवान का शासन है। एक समय मे तीनकाल और तीनलोक को जानने वाले सर्वज्ञदेव

जागृत चैतन्य ज्योति हैं और उनके द्वारा प्रकाशित यह मार्ग है, उसमें अन्यथा कुछ नहीं चल सकता। जो अंतरंग स्वरूप की श्रद्धा करके अंतरंग जैनी बनता है उसका तो कहना ही क्या है। वे तो मानो जिनेश्वरदेव के लघुनंदन ही हो गये। अंतर जैनत्व अपूर्व वस्तु है, अभी यहां मात्र यही बात कही जा रही हैं कि बाह्य जैनी कब बना जा सकता है। बाह्य जैन हुये बिना अंतरंग जैन नहीं हुआ जा सकता। यदि कोई कुदेवादि को छोड़कर तन, मन, धन से सच्चे देवादि की भक्ति नहीं करता तो वह बाह्य जैन भी नहीं है सच्चे देव, गुरु और धर्म का मिलना अनंतकाल में भी दुर्लभ होता है वे बाह्य निमित्त हैं। पहले बाह्य यथार्थ निमित्तों की श्रद्धा भक्ति हुये बिना अंतरंग के उपादान स्वरूप की श्रद्धा भी नहीं हो सकती।

प्रश्न—आपने अपने एक प्रवचन मे कहा था कि देव गुरु शास्त्र किसी को समझा नहीं देते, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर—हां, यह ठीक है किन्तु यह किसने कहा है कि वे निमित्त नहीं हैं। सत् को समझने के लिये सच्चे देव, गुरु और शास्त्र का ही निमित्त होता है किन्तु यहां यह नहीं भूलजाना चाहिये कि 'निमित्त पर का कुछ नहीं करता' सत् मे सत् निमित्त आये बिना नहीं रहते। यदि पहले सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को पहचान कर उन्हें निमित्त के रूप में स्वीकार न करे तो बाह्य जैनपना भी नहीं हो सकता, उसे वीतराग के प्रति रुचि भी उत्पन्न नहीं हुई है।

"हे नाथ, हे देव, तेरी भक्ति के आगे मुझे इंद्रपद, कामधेनुगाय चितामणिरत्न, कल्पवृक्ष अथवा चक्रवर्ती का राज्य यह सब सड़े हुये तृण के समान मालूम होता है।" ऐसे भावों के साथ गणधर और इंद्र भी अरहतदेव की भक्ति करते हैं। यद्यपि उन्हे आत्मा का भान है किन्तु अभी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई, इसलिये उनके बीच बीच मे शुभराग आजाता, है। वे अतरग मे समझते हैं कि 'यह शुभराग है जो मेरा स्वरूप नहीं है, जब इस शुभराग को दूर करूगा तब वीतरागता प्रगट होगी।' इसप्रकार देव गुरु और धर्म के प्रति शुभराग हुये बिना नहीं रहता, किन्तु उस शुभराग से धर्म नहीं होता।

जिन्हें विचक्षण ज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हो चुका है। ऐसे त्रिलोकीनाथ और उनके अनुयायियों को छोड़कर त्रिकाल मे किसी ने न तो सत को कहा है और न कह सकेगा। जो ऐसे वीतरागदेव की न तो श्रद्धा करते हैं और न ज्ञान करते हैं तथा जो अपनी क्रिया को भी नहीं सुधारते अर्थात् जो राग की दिशा को नहीं बदलते वे व्यवहार जैन भी नहीं है।

प्रश्न—यदि आप कहे तो दो चार प्रकार की हरी छोड़ दूं किन्तु मुझे जैन मे तो शामिल रखिये।

उत्तर—जो अरहत देव और परम गुरु को नहीं पहचानता और जिसे अतरंग से उनके प्रति भक्ति का उल्लास जागृत नहीं होता तथा जो उनके लिये तन मन धन खर्च नहीं करता तो उसके व्यवहार से भी जैनत्व नहीं है और वह अपने भावरूपी अनती हरी को विपरीत भाव से चबा खाता है यह आत्मा स्वयं हरा भरा आनंद मूर्ति वीतरागस्वरूप हैं वह वीत-

राग की भक्ति नहीं करता, इसलिये उसके आत्मा का आनंद मारा जाता है और यही आत्मा के हरे भरे स्वरूप की हिंसा है। अरे यदि तू सच्चे देव गुरु को मानता हो तो यह देख कि तूने अपनी कमाई का अष्टमांश या दशमांश भी देव गुरु धर्म की प्रभावना इत्यादि के लिये निकाला है या नहीं जो अपने भाव की क्रिया को भी नहीं सुधारता वह वीतराग का भक्त नहीं है।

ध्यान रहे कि यह बात मात्र पुरुषों के लिये ही लागू नहीं होती किन्तु स्त्रियों के लिये भी एकसी लागू होती है। स्त्री के लिये गहने बनवा दिये जाते हैं किन्तु उन पर स्त्रियों का अधिकार है या नहीं, स्त्री को यदि कुछ दानादि मे खर्च करना हो तो वह खर्च कर सकती है या नहीं। बहुतसी स्त्रियों के पास धन तो होता है किन्तु वह खर्च करने के लिये नहीं, वह संपत्ति यों ही ज्यों की त्यों पडी रहती है और वह बेचारी मरकर जा पहुंचती है मरघट, और पुरुष भी मरकर मरघट मे जा पहुंचता है। इस प्रकार दोनो मरकर मरघट में जा पहुंचते हैं और पैसा गहना इत्यादि सब अपनी जगह पड़ा रहता है किन्तु शेखीखोर आदमी अपने जीते जी कुछ खर्च नहीं करता।

जब देव गुरु धर्म के लिये कुछ करने की बात आती है, तब बहाने निकालता है लेकिन जब वह बंगला मोटर इत्यादि के लिये हजारों रुपये खर्च करता है तब वे कहां से लाता है? जब धर्मकी बात आती है तब कहता है मेरे पास इतना धन खर्च करने को नहीं है लेकिन लड़के की सगाई

इत्यादि के लिये बहुत लंबा विचार करता है और दूसरे काज व्यवहार के लिये भी खर्च करने की बात पहले से सोच रखता है लेकिन क्या कभी यह उसी प्रकार देव गुरु धर्म के लिये भी विचार करता है, उनकी महिमा प्रभावना इत्यादि के लिये कुछ कर दिखाने का भाव भी कभी होता है या मात्र सूखी बाते ही किया करते हो। जिसे देव शास्त्र गुरुकी प्रभावना और भक्ति के लिये उल्लास नहीं होता वह वीतराग का भक्त नहीं है। जो वीतराग का भक्त होता है उसे जब देव शास्त्र गुरुकी प्रभावनादि के कार्यो मे तन मन धन लगाने का सुअवसर प्राप्त होता है तब वह उल्लास से कूद पड़ता है और कहता है कि "अहो, धन्य है यह सुअवसर, धन्य है यह प्रसंग, धन्य हैं देव शास्त्र और गुरु। भला देव शास्त्र गुरु से बढ़कर और क्या हो सकता है। मेरे हाथो देव गुरु धर्मकी प्रभावना हुई, मेरा जीवन धन्य हो गया।" इस प्रकार जो तन, मन, धन से उल्लासपूर्वक देव शास्त्र गुरुकी भक्ति नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है।

कोई वीतरागी देव गुरु धर्म के लिये तन मन धन खर्च नही करता किन्तु अपने बचाव के लिये कहता है कि भाई, "वीतराग का मार्ग तो स्वय वीतराग द्वारा सुशोभित हो रहा है, इसमे मेरा क्या चल सकता है। शासन का पुण्य अलौकिक है, उसीसे शास्त्र सुशोभित हो रहा है।" उसके उत्तर मे कहते है कि तेरे स्त्री पुत्रादि भी पुण्य से सुशोभित हो रहे हैं तो फिर क्यों मुफ्त मे परिश्रम करता है। वहां तो तू उल्लास से सब कुछ करता है। और यहा पर कोरी बाते

बनाता है। भले, शासन तो उसके पुण्य से चल ही रहा है तब तू अशुभ राग को छोड़कर शुभराग क्यों नही करता। यदि वीतराग देव को मानते हो तो अशुभराग की दशा को बदलकर देव शास्त्र गुरु के किये उल्लास पूर्वक तन मन धन लगाओ। मात्र कोरी बातों से—सूखी बातो से पांच अज्ञानी आलसी आदमियों के साथ संबध रखने के लिये 'प्रमाद के गुरु जैसे बनकर' बाह्य जैनी बनना चाहते हो किन्तु अंतरंग भावों के बिना यथार्थ फल नहीं मिलेगा और जब यह अवसर (मनुष्यदेह) चला जायगा तब तू ही पश्चाताप करेगा।

पहले ग्रहीतमिथ्यात्व की दशा मे विपरीत मान्यता के कारण कुदेवादि मे तन मन धन लगाये रहते थे और अब सच्चेदेव गुरु धर्म के लिये उससे अधिक खर्च नहीं करते, तब क्या यह माना जाय कि जैनमत मे आनेसे तुम्हारी शक्ति उल्टी कम होगई है? अथवा कपट से मात्र लोगों को दिखाने के लिये जैनी हुये हो, या तुम्हें त्रिलोकीनाथ परमात्मा अरहंतदेव की सत्यता और महत्ता प्रतिभासित नहीं हुई है अथवा यों माना जाय कि तुम्हे देव गुरु धर्म की भक्ति का कोई फल दिखाई नहीं देता। इतने प्रकार बनादिये गये हैं इनमें से कहीं कहीं तुम्हारा मन जरूर अटल रहा है, अन्यथा देव-गुरु-धर्म की भक्ति और उनके प्रति बहुमान हुये बिना नहीं रह सकता। सच्चे देव शास्त्र और गुरु की भक्ति मे सत् के निमित्तों का बहुमान हैं, उसमे उच्च शुभभाव का फल महान् हैं। सांसारिक कार्यों का फल चौरासी मे—नरकादिगति मे अवतार मिलता है। सच्चे देव-गुरु की भक्ति का शुभफल मिले बिना नहीं रहता।

मालूम होता है कि तुम्हें सर्वज्ञदेव का यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हुआ है, जिससे तुम उल्लास पूर्वक भक्ति इत्यादि मे तन, मन, धन नहीं लगाते। यदि तुम्हे सर्वज्ञ देव की वास्तविक सच्चाई प्रतिभासित होगई हो तो तुम्हें उस ओर स्वयं उत्साह क्यों नहीं होता। "अहो, हमारा अवतार धन्य है कि हमे देव-गुरु-धर्म की भक्ति-प्रभावना का प्रसंग प्राप्त हुआ, यह तो हमारा ही कार्य है, धन्य धन्य। हमारा यह धन्यभाग्य है कि हमारे हाथों मे यह कार्य आया है।" इस प्रकार तुम स्वयं उत्साहरूप प्रवृत्ति क्यों नहीं करते। यदि देव-गुरु के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न होगई हो तो उस कार्य में उत्साहपूर्वक तन, मन, धन, काल और ज्ञान इत्यादि लगाना चाहिये।

यदि तुम्हें सत्की रुचि हो गई है तो 'यदि सत्की विशेष विज्ञप्ति हो तो जगत के जीवो को सत् का लाभ मिले' इस प्रकार की भावना से तुम यथार्थ रीत्या सुखरूप देव-गुरु-धर्म की प्रभावनादि के कार्य में प्रवृत्ति क्यों नहीं करते ? हम तो कहेंगे कि तुम्हे देव की यथार्थता ही ज्ञात नहीं हुई। यहांपर प्रभावना इत्यादि मे सुखरूप [अपने हर्षपूर्वक] प्रवृत्ति करने को कहा है, किसी के कहने से, कानून से, जाति के रिवाज से प्रवृत्ति करने की बात नही है किन्तु स्वय ही भक्ति से देव गुरु धर्मकी प्रभावना इत्यादि में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये।

जिस प्रकार रोगी को दवा करना नहीं रुचता तो समझना चाहिये कि उसका मरण निकट है उसी प्रकार तुम्हें

देव-गुरु-धर्म के लिये उल्लास नही होता तो समझना चाहिये कि तुम्हारा भविष्य बुरा है। जो देव-गुरु-धर्म के लिये लोभ करता है उसके समान कपटी दूसरा कोई नहीं है। वीतरागदेवने जिसे स्वीकार कर लिया है कि "यह प्राणी योग्य है" उसके समान उत्तम और दूसरा कौन हो सकता है और वीतरागकी वाणी मे जिसका अस्वीकार किया गया है कि "यह प्राणी योग्य नहीं है" तो उसके समान हलका और कौन होगा।

जैसे कोई कुलटा स्त्री पर पुरुष को अपना पति मानकर उसकी सेवा भक्ति किया करती थी, उसे अच्छे अच्छे भोजन जिमाया करती थी, किन्तु जब बहुत समय के बाद भाग्योदय से उसे सच्चा पति मिला तब वह स्त्री पहले जो उत्साह पर पुरुष के लिये रखती थी वह अपने सच्चे पति के लिये शक्य होने पर भी नहीं करती, उसके साथ प्रेम और उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करती तो निश्चयतः वह कुलटा ही है, उसे अपने सच्चे पति के प्रति प्रीति ही नहीं है, इसी प्रकार तुम भी प्रथम दशामे मिथ्यादेव और गुरु के लिये तथा घर संसार मे स्वछन्द प्रवृत्ति करते थे और अब बहुत बड़े सौभाग्य से सच्चे देव, शास्त्र, गुरु मिले है-सच्चे स्वामी जिनदेव की प्राप्ति हुई है, जिन से सुख मिलता है और जन्म मरण का दुःख दूर होता है उनकी प्राप्ति होने पर भी तुम तन मन धन से भक्ति इत्यादि में प्रवृत्ति नहीं करते तो तुम भी कुलटा स्त्री के समान हो। उस कुलटा स्त्री के समान ही तुम मे भी महा मिथ्यापन भरा हुआ है, अपने

को धर्मात्मा कहलवाता है, वीतराग का सेवक कहलवाता है किन्तु वीतरागदेव के कार्यो मे सहर्ष प्रवृत्ति नहीं करता, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

ग्रंथकार कहते हैं कि भाई! तुम्हीं विचार कर देखो कि यह दोष तुममे है या नहीं। हम तुमपर जबर्दस्ती दोषारोपण नहीं करते, किन्तु यदि तुम्हारे अतरग मे इसी प्रकार की प्रवृत्ति बनी रही तो वह दोष तुम्हारे घर मे स्वय दौड़कर आयगा।

कुगुरु कुदेव को छोड़कर सच्चे गुरु और सच्चे देव का सबध होने पर यथार्थ रसरूप हर्षपूर्वक कार्य होता और उसके होनेपर धर्मीपन आयगा। मात्र कोरी बातों से धर्मीपन नहीं आता। पहले सच्चे देव-गुरु की भक्ति, बहुमान, विनय यह सब भले हो किन्तु कुछ लोग तो उसी मे भक्ति मानकर अटक पड़े हैं वे यथार्थ वस्तु को नहीं समझते और कुछ लोगोने जिनदेव की भक्ति इत्यादि को जडमूल से ही उखाड दिया है, वे भी वास्तविक तत्त्व को समझ नहीं पाये। पहले कुदेव कुगुरु की मान्यता को छोड़कर सच्चे देव-गुरु-धर्म को मानने से अशुभभाव कम होकर शुभभाव बढजाता है। देव गुरु शास्त्र की भक्ति आदि के जैसे शुभपरिणाम करता है उसी प्रकार शुभफल मिलता है जो सच्चे देव, शास्त्र गुरु को मानता है उसके पूर्वकृत के पाप कम हो जाते हैं और पुण्य बढ जाता है उन दोनो से रहित आत्मस्वरूप की पहिचान करना सो वर्त-मान अपूर्व धर्म है।

ध्यान रहे कि पुण्य, पाप तथा धर्म इत्यादि पैसे से नहीं होता। पैसा जड वस्तु है, उस से आत्मा का धर्म तो हो ही

नहीं सकता। पैसे से न तो पुण्य होता है और न पाप ही। पैसे का आना जाना जड की क्रिया है उसका कर्ता जड है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है और आत्माको उस जडकी क्रिया का फल भी नहीं होता। जड से भिन्न और पुण्य पाप के विकार से भी रहित चैतन्य स्वभावकी सच्ची पहिचान के साथ श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता का होना सो धर्म है। रुपये पैसे की तरफ तीव्र तृष्णारूप जो पाप भाव होता है उसे कम करके यदि तृष्णाको कम किया जाय तो उस भाव से पुण्य होता है। जीव अशुभभाव को छोडकर जब तृष्णाको कम करने का भाव करता है तब धन इत्यादि का लोभ मंद होने पर धन आदिक खर्च होता है, इस प्रकार अधिकांशतः निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है और यदि रुपये पैसे पर तीव्र तृष्णा करे तो उस भाव से पाप होता है, इस प्रकार आत्मा के परिणाम से ही धर्म अथवा पुण्य पाप होता है। धर्म आत्मा की शुद्ध क्रिया है और पुण्य पाप के भाव आत्माकी अशुद्ध क्रिया है तथा पैसे इत्यादि का आना जाना जडकी क्रिया है। आत्मा की क्रिया का कर्ता आत्मा है, और जडकी क्रिया का कर्ता जड है। आत्मा और जड दोनों प्रथक् पदार्थ है, वे एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते।

इस प्रकार जड और चेतन दोनों पदार्थ भिन्न भिन्न हैं तथा उनके कार्य भी अलग अलग हैं, इतना समझ लेने के बाद जीव अपने परिणाम की ओर देखता है अपने परिणाम में पाप भाव से बचने के लिये पुण्य भाव आता है, वह पुण्य भाव भी विकार है, और उस विकार से रहित अविकारीभाव

अर्थात् आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ रूप जो भाव है वही धर्म है, इस प्रकार धर्म और पुण्य के बीच में जो अंतर है उसे समझना चाहिये। धर्म का उपाय यथार्थ समझ का होना ही है। पुण्य धर्म का उपाय नहीं है क्योंकि पुण्य विकार है और धर्म अविकारी है। विकार के करते करते अविकारीपन कभी नहीं हो सकता।

पहले संसार संबंधी अशुभभाव को बदल कर और सच्चे देव गुरु धर्म को पहचान कर जब जीव उस ओर का शुभ-भाव करता है तब ग्रहीतमिथ्यात्व से छूटता है किन्तु सत्देव-गुरु और धर्म की ओर जो शुभराग होता है उससे धर्म नहीं हो जाता। देव गुरु धर्म को पहचान कर किस जीवने ग्रहीतमिथ्यात्व अनंतबार छोड़ा फिर भी अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ पाया और इस सूक्ष्म मिथ्या मान्यता को नहीं छोड़ा कि पुण्य से धर्म होता है। इसलिये उसे यथार्थ धर्म प्राप्त नहीं हुआ और वह अनंत संसार में चक्कर लगाता रहा। पहले देव, गुरु धर्म को पहचान कर देव गुरु धर्म से भिन्न तथा उनकी ओर जो शुभभाव है उससे भी यथार्थत पृथक् ऐसे निज आत्मा को पहचान कर उसकी श्रद्धा और स्थिरता का होना सो धर्म है, उसी से अनंत संसार का नाश होकर अविनाशीक सुख की प्राप्ति होती है।

१–समयसार-प्रवचनो भाग-१	गुजराती	३–०–०
२–समयसार-प्रवचनो भाग-३	,,	३–०–०
३–पूजा–संग्रह	,,	०–६–०
४–छह–ढाला	,,	०-१२-०
५–समवसरण–स्तुति	,,	०–३–०
६–अमृतझरणां	,,	०–६–०
७–जिनेन्द्रस्तवनावली	,,	०–६–०
८–नियमसार–प्रवचनो भाग–१	,,	१–८–०
९–समयसार–प्रवचनो भाग–२	,,	२–०–०
१०–जैनसिद्धान्तप्रवेशिका	,,	०–८–०
११–आत्मसिद्धिशास्त्र [शब्दार्थ साथे]	,,	०–४–०
१२–आत्मसिद्धिशास्त्र [स्वाध्यायमाटे]	,,	०–२–०
१३–मुक्तिका मार्ग	(हिंदी)	०-१०-०

कहान जैन शास्त्रम

मोक्षमार्ग प्रकाशक	गुजराती	३—०—०
आत्मसिद्धि—प्रवचनो	,,	३—०—०
अपूर्व अवसर—प्रवचनो	,,	०—८—०
मोक्षनी क्रिया	,,	०-१०-०
सत्तास्वरूप	,,	०—९—०
सर्वसामान्यप्रतिक्रमण	,,	०—८—०
द्रव्यसंग्रह	,,	०—७—०
समयसार [गुटको]	,,	०—५—०
बारभावना (कुंदकुंदाचार्यकृत)	,,	०—४—०
आत्मधर्म—फाईल वर्ष—१	,,	३—४—०
आत्मधर्म—फाईल वर्ष—२	,,	३—४—०
आत्मधर्म—मासिक [गुजराती]	लवाजम	२—८—०
आत्मधर्म—मासिक [हिंदी]	लवाजम	३—०—०